# शास्त्री शाहब

# शास्त्री शाहब

( हास्य-रस की अपूर्व कहानियाँ )


लेखक

श्री बद्रीनारायण शुक्ल


—:o:—


मिलने का पता –

भारती (भाषा)-भवन

३८१०, चर्खेवालाँ

दिल्ली

सं० १९५५ ] [ मूल्य ३)

# दो शब्द

हमारे साहित्य में व्यंग्य लिखने की परम्परा प्राचीन होते हुए भी, विस्मृत-सी रही है। हिंदी के विद्वानों में बहुत कम ऐसे हैं, जो सफलता से व्यंग्यात्मक कृतियाँ प्रस्तुत कर सके हों, जब कि इसके विपरीत इंग्लैंड, फ्राँस, योरप और अमेरिका के अनेक देशों में इस कला में पारंगत विद्वानों तथा उनकी रचनाओं का बाहुल्य है। हमारे साहित्य में यह कमी बहुत खटकती है। व्यंग्य प्रधान कृतियों में शिष्टता और लोकाचार की भावनाओं का पर्याप्त ध्यान रखना आवश्यक होता है। लेखक की सफलता इन्हीं गुणों द्वारा आँकी जाती है।

"शास्त्री-शाहब" एक व्यग्यात्मक कृति है। इसकी कहानियों के लेखक पं० बद्रीनारायण शुक्ल एम० ए०, बी० टी० हास्यरस के एक सफल लेखक हैं। उनके सामाजिक व्यंग्य प्रायः अपने ढंग के अनूठे और मनोरंजक होते हैं। इस पुस्तक की नौ कहानियाँ एक-से-एक बढ़कर हैं। शास्त्रीजी ने अपनी कहानियों के लिये जिन पात्रों की रचना की है, वे हमारे सामाजिक जीवन के स्तरों से विभिन्न विचारों वाले व्यक्ति हैं, और प्रत्येक का चरित्र एक दूसरे से सर्वथा पृथक् है। कहानियाँ ऐसी रोचक हैं, और उनके लिखने का ढंग इतना हृदय-ग्राही है, कि पाठक उनको बार-बार पढ़ कर भी तृप्त नहीं होते।

प्रस्तुत सुंदर कृति हम अपने साहित्य प्रेमी पाठकों की भेंट कर रहे हैं, और हमें विश्वास है, कि वे इसे हमारी अन्य पुस्तकों की भाँति स्नेह से अपनाकर हमारा उत्साह बढ़ायेंगे।

'कुंद-ज़हन' की कुंदी देखने का लोभ 'शास्त्री शाहब' रोक नहीं सके, डंडा टेकते रंगमंच पर आ ही तो गए। आपको अपने 'शाहब' होने पर नाज़ है, पर शायद हज़रत यह नहीं जानते कि इस बूढ़े ज़माने में साहबों की साहबी किरकिरी करने की लोग जी-जान से कोशिश कर रहे हैं।

# विषय-सूची

# शास्त्री शाहब

(१)

मियाँजी मिनमिनाते हुए बोले—"शास्त्री साहब भी वाक़ई ग़ज़ब के आदमी हैं। जो चाहें, सो साबित कर सकते हैं। अगर वह यह क़स्द कर लें कि इस आसमान में मिट्टी के तेल की खदान का होना साबित करेंगे, तो वह भी आनन-फ़ानन कर सकते हैं। अगर वह यह साबित करना चाहें कि मोती ज़मीन से और हीरा सीप से पैदा होता है, तो वह भी आसानी से कर सकते हैं। अगर डारविन के भाई की हैसियत से वह यह साबित करना चाहें कि आदमी बंदर से नहीं, कछुए से पैदा हुआ है, तो वह भी तंबाकू की सिर्फ़ एक पीक थूक कर उसी आसानी से कर सकते हैं, जिस आसानी से आप चटनी चाटते हैं। वाक़ई ग़ज़ब के आदमी हैं।

ठाकुर ठनकसिंह ने गाल ठनकाते हुए कहा—"ऊँह, यह क्या बड़ी बात है मुल्लाजी, जब मैं शास्त्री की उम्र का था, तब मैं भी हर एक बात सिद्ध कर देता था। ऐसी-ऐसी बातें मैंने उन दिनों साबित की थीं कि ब्रह्माजी को भी घबराहट के मारे चक्कर आ गया था। क्या करूँ, अब ज़रा बुढ़ापे से

हाथ-पैर लाचार हो गए, नहीं शास्त्री से अभी शास्त्रार्थ करने को तैयार हो जाता।"

पंडित पंखीलाल पंख फड़फड़ाते हुए बोल उठे—"वाह, गोया शास्त्रार्थ हाथ-पैर से किया जाता है। कुछ भी हो, ठाकुर साहब, यह तो आपको मानना ही पड़ेगा कि शास्त्री जी हैं। विद्वान् आदमी उनकी समता का खोजी आदमी इस समय भारतवर्ष में एक भी न मिलेगा। इसमें तनिक भी संदेह नहीं।"

बातों का दौर चल ही रहा था कि श्रीघंचूलाल वकील वहाँ आ टपके। तीनों भले आदमियों को अपनी घुग्घू-सी आँखों से देर तक घूर कर श्रीघंचूलाल ने मियाँजी से पूछा—"कहिए मुल्लाजी, कैसा झगड़ा है? नालिश करना हो, तो मुझसे कहिए। ठाकुर ठनकसिंह को कुरते की बाँह चढ़ाते और पंडित पंखीलाल को नथुना फुलाते मैंने खुद देखा है। इससे ज्यादा सबूत की कोई जरूरत नहीं। आपके सौभाग्य से मैं कचहरी ही जा रहा हूँ। कहिए, तो लगे हाथ दावा दायर कर दिया जाय। अभी बात ताज़ी है, बासी होने से कमज़ोर हो जाने का डर है।"

मियाँजी ने सफ़ेद दाँतों द्वारा 'शास्त्री साहब' का यश बखेरते हुए कहा—"झगड़ा-वगड़ा कुछ नहीं हुजूर, यों ही शास्त्री साहब के बारे में ज़िक्र हो रहा था।"

सिद्धहस्त की तरह अपनी आशा की क़ब्र मन ही में बनाकर

श्रीघेंचूलाल बोले—"ओह, मैं समझा कि सम थिंग इज़ एकुट। लेकिन भाई वाह!" हँसते हुए वकील साहब बोले—"लेकिन भाई वाह, 'शास्त्री' और 'साहब'! खूब जोड़ा, भाई वाह! लेकिन शास्त्री साहब नहीं, 'शास्त्री शाहब' कहिए, क्योंकि हज़रत स को श कहते हैं।"

बस, तद्दिनादेव श्रीसांटानंद शास्त्री श्रीशोंटानंद शास्त्री या शास्त्री शाहब हो गए।

( २ )

शास्त्रीजी उर्फ़ शास्त्री शाहब ठिगने-ऊँचे, पतले-मोटे मनुष्य थे। जब किसी छै-फुटिए के साथ खड़े होते, तब ठिगने दिखाई देते, जब किसी पंच-फुटिए के कंधे पर पंजा रख कर चलते, तब ऊँचे मालूम होते थे। जब किसी गधे-से मोटे आदमी से बातें करते, तब हफ्ते-भर की भूखी बछिया-से पतले दिखाई देते, और जब किसी लकड़बग्घा-से लफझफाते, दुबले-पतले मनुष्य के पास खड़े होते, तो अँगरेज़ी बुलडाग की तरह मोटे नज़र आते थे। सारांश यह कि शास्त्रीजी ठिगने थे न ऊँचे, पतले थे न मोटे। मामूली डील-डौल के बेमामूली मनुष्य थे।

शास्त्री जी संस्कृत के सब शास्त्रों को घोलकर पी गए थे, इसमें तो कोई संदेह ही नहीं, हिंदी के भी धुरंधर थे, और पुरातत्व-विज्ञान पर तो खासा दखल रखते थे। ऐसे विद्वान् की कीर्ति यदि देश-भर में न फैल सकी, तो यह भारतवर्ष का अभाग्य

ही है, और कुछ नहीं। फिर भी शहर में उनका यथेष्ट मान था। हवा की तरह सारे नगर में उनका यश धूल के साथ उड़ा-उड़ा फिरता था। जन-समुदाय में यह विश्वास दृढ़ रूप से जमा था कि मरने से पहले एक बार शास्त्री शाहब का दर्शन कर लेने से और उनको अमृत-वाणी सुन लेने से अवश्य मोक्ष मिल जाता है।

शास्त्री जी से एक अरसे से मेरा परिचय था। वह मेरे पिता के दोस्त होने के कारण अक्सर मेरे यहाँ आया-जाया करते थे। मैं भी उनके दौलतखाने पर कभी-कभी अपनी तशरीफ़ ले जाता था। उस दिन दर्शन की उत्कट इच्छा लिए मैं उनके घर पहुँचा।

शास्त्री जी एक 'पाकेट एडीशन' मकान में रहते थे। उनका वह क़िला शहर से बाहर एक बहुत बड़े टीले पर उसी तरह स्थित था, जैसे कोई दंडी बाबा अपने भूधर शरीर से अपना छोटा-सा हाथ ऊपर उठाए हो। हाथ में जो नाख़ून हैं, वे ही मानों शास्त्रीजी के घर के खपड़े थे। आप कहेंगे, हाथ में तो पाँच ही नाख़ून होते हैं (छ होना अपवाद है), क्या शास्त्री जी के छप्पर पर पाँच ही खपड़े थे? मैं कहता हूँ, हाँ पाँच ही थे, न पाँच होंगे, पचास होंगे, न पचास होंगे, पाँच सौ होंगे, न पाँच सौ होंगे, पाँच हज़ार होंगे, पर थे पाँच की संख्या के अंदर-ही-अंदर। क्योंकि पाँच की संख्या हमारे यहाँ शुभ मानी गई है, नहीं तो परमेश्वर 'पंच' क्यों होता?

या पांच जन्य शंख इतना प्रसिद्ध कैसे हो सकता ? अथवा पांडव पाँच ही क्यों होते, छः न होते ? या पंचगव्य में पांच ही चीजें क्यों मिलाई जातीं ?

शास्त्रीजी के घर के चारों ओर बेलें लगी थीं, जो फैलकर घर पर चढ़ गई थीं। उन्हें देख एकाएक यही मालूम होता था कि शायद हाथ का सहारा देकर मकान की दीवरों को सीधे खड़े रहने में सहायता कर रही हैं।

जिस समय मैं इस स्वर्ग-द्वार पर पहुंचा, उस समय शास्त्रीजी दालान में रक्खे अपने सुआ के पिंजरे के पास खड़े थे। उनके चेहरे पर स्वाभाविक 'आओ, आओ, बहुत दिनों में दिखे, कहो, कैसे रहे, के ढंग की मुस्किराहट खेल रही थी। हाथ में मटर की कुछ फलियाँ थीं, जो बारी-बारी से तोते की चोंच की शोभा बढ़ाकर उसके पेट की शोभा बढ़ाने चली जाती थी। मेरे दंडवत् करने पर मेरी आयु को खूब खींचकर शास्त्रीजी बोले—"आओ, आओ, भले आए।"

मैं देख रहा था, शास्त्रीजी क्या कर रहे हैं, पर कोई खास बात न सूझ सकने के कारण पूछ बैठा—"कहिए महाराज, क्या हो रहा है ?"

शास्त्रीजी ने कुछ देर तक मेरी ओर इस तरह देखा, जैसे मेरे प्रश्न से मुझे एकदम मूर्खों का सिरताज समझ लिया हो। फिर एक फली मेरी ओर बढ़ा दी, जैसे मैं तोता होऊँ। लेकिन तुरंत ही शायद उन्हें याद आ गया कि मैं तोता नहीं,

मनुष्य हूँ, सुआ पिंजरे में है। इसलिये वह फली मेरे मुँह के पास से हटाकर तोते के मुँह में रखते हुए बोले—"आह, क्या? हाँ! हाँ, अच्छे आए, आओ, बैठो। मैं जरा इस तोते की नाक का निरीक्षण कर रहा हूँ। देखो, कैशा शुंदर नाशिका है! तभी तो हमारे कवियों ने शुंदर-शे-शुंदर श्त्री की नाक की उपमा इशकी नाक शे दी है। भावावेश में तोते की नाक पर चढ़ नाक[1] को भी नाक गए हैं[2]।"

शास्त्रीजी ने मटर की फली मेरी ओर बढ़ाई, तो मैं समझा, प्रेम के वश हो मुझे मटर खिला रहे हैं। मैंने भी बदले में प्रेम के वश हो पूरा मुँह खोल दिया। पर दूसरे ही क्षण मटर की जगह मुँह के सामने बहुत-सी नाकें ठूँस दी जाने पर मैंने घबराकर मुँह बंद कर लिया, और इस डर से कि शास्त्रीजी की नाक कहीं जबरदस्ती मेरे मुँह में न घुस बैठे, मैंने हाथ से मुँह बंद किए-किए कहा—"अरे, अरे, आपने तो नाक की नाक काट ली।" सुनते ही शास्त्रीजी ने घबराकर अपनी चपटी नाक पर हाथ फेरा। उसे ज्यों-की-त्यों सही-सलामत पा उन्होंने संतोष की एक साँस ली। मैं कहता गया—"आपने तो नाक की नाक काट ली। पर महाराज, तोते की नासिका में तो सुंदरता का कोई खजाना मुझे गड़ा नजर नहीं आता। इससे अच्छा था कि कपि लोग, अरे! कवि लोग मछली फँसाने के 'हुक' से सुन्दरी की नासिका की उपमा देते। वह

[1]नाक=स्वर्ग। [2]नाक गए हैं=लाँघ गए हैं।

ज्यादा फबती होती, क्योंकि 'हुक' जैसे मछलियों को फँसा लेता है, वैसे ही सुंदरी की नाक रसिक नरों का दिल फँसा लेती है।"

संतोप की साँस समाप्त कर शास्त्री शाहब बोले—"अरे, इन काव्य की बातों को तुम क्या शमझो। देखो, शुंदरी की आँख की तुलना हमारे कवियों ने मृग के नेत्रों शे की है।"

मैंने कहा—"धन्य है महाराज, आपके कवियों को, पर प्रभुवर, हिरन की आँखें भूरी होती हैं। यदि आपके कवियों को भूरेपन से ही प्रेम था, तो अच्छा होता, किसी फ़िरंगी लेडी की आँखों की उपमा देते।"

"नहीं जी, भूरेपन के कारण नहीं, चंचलता के कारण हिरण की आँखों शे नेत्रों की तुलना की गई है।"

"तो चंचलता का सबसे विशद रूप तो महाराज, पीपल के पत्ते में पाया जाता है, इसी से उस पेड़ को 'चलपात' भी कहा है। कवियों को उससे आँख की तुलना करनी थी।"

शास्त्रीजी नाराज़-से होकर बोले—"कैशी बेढंगी बात करते हो! कहाँ पीपल का पत्ता, कहाँ हमारी...ए...कवियों की ...नहीं,... नहीं...शुंदरी की नाक...हुँक...आँख! मुझे क्या पता कि जनता में इतना अज्ञान फैला है, नहीं, एक ही व्याख्यान में इश अंधकार का अंत कर देता। खैर, चलो, उश वृक्ष के नीचे चलो, आज तुमशे निपट लूँ, जनता को बाद में देखता रहूँगा।"

शास्त्री शाहब गुस्सा, अरे गुस्सा तो हो ही गए थे, उनके अंतिम वाक्य ने निश्चय करा दिया कि आज मुझे बिना मारे न छोड़ेंगे। मैं बहादुर होऊँ या न होऊँ, कम-से-कम मार खाने में तो बहादुर नहीं। उनकी बात सुनते ही मेरा दिल काँप उठा। और, जब शास्त्रीजी अपना सोंटा उठाकर दालान से नीचे उतरने लगे, तब तो गज़ब हो गया। मारे भय के मुझे गश-सा आने लगा। हाथ-पैर फूल गए, जबान तालू से चिपक गई, और आँखों से आँसू बह पड़े। जब कई क़दम बढ़ जाने पर भी मैं शास्त्रीजी का पीछा न कर आगा-पीछा करता रह गया, तब, उन्होंने लौटकर मेरी ओर देखा, और कड़े स्वर में कहा—"आओ, चलते क्यों नहीं? अरे!" कहते-ही-कहते वह भौंचक्का पड़े, बोले—"अरे! *तुम्हें क्या हो गया! मिरगी आती है क्या?*"

किसी तरह मैंने थोड़ी-सी हिम्मत इकट्ठी की। साष्टांग शास्त्रीजी के चरणों पर अपने को चढ़ा दिया। गिड़गिड़ाता हुआ बोला—"क्षमा कीजिए महाराज, मैं मूर्ख हूँ, मुझसे ग़लती हो गई। दया कीजिए प्रभु आप बड़े हैं, महापुरुष हैं, मैं अति तुच्छ हूँ।"

शास्त्रीजी जैसे कुछ समझे ही नहीं, आश्चर्य के स्वर में बोले—"अरे, यह क्या! उठो, उठो, यह क्या करते हो भाई?"

शास्त्रीजी नाराज़ थे, और मारने का निश्चय कर चुके थे, यह तो उनके सोंटा उठाकर आगे बढ़ने और फिर रुककर

'चलते क्यों नहीं ?' कहने से साफ़ प्रकट हो गया था । फिर मेरे क्षमा-याचना करने पर इस तरह बन क्यों गए ? अवश्य कुछ दाल में काला है। मेल करके, जान पड़ता है, चुपके से मारना चाहते हैं। मैं और डर गया, बोला—"जब तक आप प्रतिज्ञा न कर लेंगे कि मुझसे न निपटेंगे, तब तक मैं न उठूँगा। जनता का आप चाहे जो कुछ करिए, लेकिन मुझे छोड़ दीजिए, मुझसे न निपटिए।"

शास्त्रीजी उसी स्वर में बोले—"शाफ़-शाफ़ बोलो, क्या कहते हो ?"

मैंने कहा—"मैं मूर्ख हूँ, अज्ञान हूँ, मुझे ऐसा ही रहने दीजिए भगवन् ! मेरा अंधकार दूर करने का कष्ट न करिए।"

"लेकिन यह कैशे हो शकता है ? आखिर मेरा धर्म क्या है ? यदि मूर्खों को शिक्षा न दूँगा, तो मुझे पाप न पड़ेगा ? अपना धर्म न पालने से मुझे घोर नरक होगा। ऐशा नहीं हो सकता। ना-ना।"

शास्त्रीजी के इस निश्चित वाक्य से रही-सही हिम्मत भी जाने के लिए जूते पहनने लगा। मैंने चिल्लाकर कहा—"तो महाराज, मैं मूर्ख नहीं, विद्वान हूँ, खूब होशियार। यों ही हँसी में ऐसी बातें कर गया था। कृपा कर मुझे शिक्षा देने का कष्ट न करिए, आपके कोमल हाथों में व्यर्थ दर्द होगा, जो मुझसे कदापि न सहा जाएगा। आप तो बस यही कह दीजिए कि मुझ से न निपटेंगे। जल्दी कहिए, मेरा दम घुटा जा रहा है।"

"अच्छा, अच्छा भाई, न निपटूँगा। तुम उठो तो।"

मेरी जान में जान आई। फर्श पर से उठकर खड़ा हो गया। लेकिन उस समय तक डंडा शास्त्रीजी के हाथ में ही था। जब तक सोंटानंद के पास सोंटा था, तब तक खैर न थी, इसलिए मैंने हाथ जोड़कर कहा—"महाराज, इन डंडाराज को कृपा कर रख दीजिए, नहीं, मुझे फिर चक्कर आ जाएगा।"

शास्त्रीजी ने कुछ देर तक मेरे चेहरे की ओर देखा, फिर मुस्किराकर बोले—"अरे, अब मैं समझा। डंडा देखकर कदाचित तुम डर गए कि मैं तुम्हें मारूँगा। हरे-हरे, निपटने से मेरा मतलब था कि वृक्ष की सुखद छाया में बैठकर तुम्हें कविता के विषय में कुछ समझाऊँगा। पर राम-राम, तुम उससे क्या मतलब ले गए!"

चाहे शास्त्रीजी ने सत्य ही कहा हो, पर मुझे उनकी बात का विश्वास न हुआ। जो मनुष्य गुस्से में आकर डंडा उठा ले, वह मारेगा नहीं, तो क्या कन्यादान देगा? मंशा ताड़ लिया जाने पर सब इस तरह बहाना बना सकते हैं। मैंने कहा—"महाराज, आप यह सर्पाकार डंडा रख दीजिए।"

"अच्छा भाई, लो।" कह कर शास्त्री जी ने पास ही, दीवार से टिकाकर, अपना सोंटा रख दिया।

पर जैसा हाथ में, वैसा ही वहाँ। इतने निकट होने पर तो चाहे जब हाथ बढ़ाकर मेरा शेर उसे उठा सकता था। अतः मैंने कहा—"महाराज, यहाँ नहीं, दूर रखिए।"

"अरे, आज तुम्हें क्या हो गया है !" कह कर शास्त्री जी ने डंडा उठाया, और उसे भीतर रखने चले गए । मैदान खाली पा मैंने बाहर का रास्ता नापा ।

इतने दिनों के परिचय में मुझे कभी यह न मालूम हुआ था कि शास्त्री हज़रत ऐसे खूँख्वार आदमी हैं । उनकी लाल-लाल आँखें देखकर मुझे कई बार शक हुआ था जरूर, पर सबूत कभी न मिला था । उस समय की घटना ने मेरी आँखें खोल दीं । ऐसे आदमी के पास बैठना और शेर से खेलना एक ही बात थी, इसलिये मैं जल्दी-जल्दी द्वार की ओर चला । पर बाड़े के दरवाजे तक ही पहुँचा था कि पीछे से शास्त्रीजी चिल्ला पड़े—"अरे, क्या चल दिए ! सुनो तो ।"

इच्छा तो हुई कि पीछे फिरकर भी न देखूँ, सुनी अनसुनी करके निकल जाऊँ, पर भय की परिधि से दूर हो चुका था । बाड़े के बाहर पहुँच चुका था, जहाँ किसी क़िस्म का डर न था । खतरे का मौक़ा आते ही एक छलाँग में मैं टीले के नीचे पहुँच सकता था, और फिर मैदान में किसमें इतनी ताक़त थी, जो मुझे पा सकता । इसलिये हिम्मत समेट मैं खड़ा हो गया । बोला—"जी, जरा काम है, इसलिये अधिक न रुक सका ।"

शास्त्रीजी पास आ गए । बोले—"अरे बैठो, अभी क्या करोगे जाकर ! कुछ देर बाद चले जाना ।"

"जी नहीं, बहुत जरूरी काम है । मुझे इसी दम यहाँ से चला जाना चाहिए ।"

"अच्छा, अच्छा, अगर ऐशा काम है, तो चले जाओ, पर यह तो बताओ, तुम्हारे पिता कलकत्ते जानेवाले थे, फिर गए या नहीं ?"

"जी, नहीं गए।"

"अच्छा ही हुआ। जरा उनशे मुलाक़ात करना है। मैंने गोश्वामी तुलशीदाश के बारे में कुछ खोज की है। तुम्हारे पिताजी शे मिलकर उन्हें शुनाना है। किश शमय घर पर मिलेंगे ?"

मुझे उस मनुष्य से डर भी लग रहा था, घृणा भी हो रही थी। ऐसे आदमी का घर पर आना अब उचित नहीं। अभी तक इसकी हरकतें मालूम न थीं, अब देखकर मक्खी नहीं निगली जा सकती। मैंने कहा—"पिताजी आजकल घर पर नहीं मिल सकते। सिर्फ रोटी खाने घर आते हैं, बाक़ी समय यहाँ-वहाँ काम में लगे रहते हैं। शाम को नदी पर मुलाक़ात हो सकती है।" पिताजी की ओर से मुझे कोई भय न था, क्योंकि वह अखाड़ा खेले हुए थे। ऐसे दो शास्त्रियों को सिखा सकते थे। संध्या-समय नदी का किनारा सुनसान रहता ही है, अगर मौक़ा आ पड़ा, तो पिताजी शास्त्रीजी से अच्छा तोबड़-तोड़ शास्त्रार्थ कर सकेंगे।

शास्त्रीजी बोले—"अच्छी बात है, तो नदी पर ही उनशे मिल लूँगा।......"

उसी समय शास्त्रीजी का एक चेला झपटता हुआ वहाँ आया। बोला—"महाराज, महाराराज, जल्दी चलिए।"

शास्त्रीजी समझे, मकान में आग लग गई। घबराकर धोती कसते हुए बोले—"क्यों क्या हुआ?"

शिष्य बोला—"महाराज, तोता आपको बुला रहा है।"

सुनते ही शास्त्रीजी ने धोती हाथ से छोड़ दी, और मारे खुशी के उछल पड़े। बेचारे बाड़े के द्वार की चौखट पर पैर रक्खे खड़े थे, खुशी में जो उछले, तो खट से सिर चौखट से जा चिपका। दर्द से कराहकर एक हाथ से सिर सहलाते और दूसरे से धोती सँभालते हुए बोले—"ओहो, तोता पढ़ने लगा! क्या कहता है?"

चेला बोला—"पागल, पागल, पागल।"

शिष्य की शैतानी से चिढ़कर शास्त्रीजी चिल्ला पड़े—"चुप रे विटप!"

डाँट सुनते ही शिष्य के देवता कूच कर गए। सिर पर हाथ मार कर बोला—"विटप! बाप रे बाप, तो क्या मैं पेड़ हो गया! हाय, हाय, यह आपने क्या शाप दे डाला भगवन्! तोता बुलाता था अवश्य, आपको नहीं, तो मुझको ही बुलाता रहा होगा। पर हाय! अब मैं क्या करूँ। अब मुझसे बहुत-सी लताएँ आकर लिपटेंगी, उनमें फूल लगेंगे, जिन पर भुन्न-भुन्नकर भौंरे अपने भोंड़े स्वर से मेरे कान की भंडी फोड़ देंगे। हे भगवन, मैं तो कहीं का न रहा।" कहकर रोता हुआ वह बोला—

"महाराज, विटप माने पेड़ भी होता है, गाल भी। दया कर यह बतला दीजिए कि मुझे सगूचा वृत्त बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, या कोई इहनहीं डाल ही गले में डाल दी गई है?"

शास्त्रीजी ने उसकी क्रिया देखी, तो बोले—"अरे, अरे, तू तो रोने लगा! पागल कहीं का। विटप से मेरा मतलब पेड़ नहीं, 'नीच' था।"

खुशी से नाचता हुआ शिष्य कहने लगा—"हाँ, हाँ, हरे, बच गया, साक्षात् बच गया। तो महाराज, आपने पहले ही क्यों न कह दिया कि हम फारसी बोल रहे हैं, सँभल जाओ। मैं भी लँगोट ठोक कर तैयार हो जाता।"

"अरे मूर्ख! विटप फारसी नहीं, संस्कृत शब्द है।" शास्त्री जी ने कहा।

"सस्किरत हो, चाहे फंस्किरत, मैं बच गया साक्षात बच गया।" कहता हुआ और दोनों हाथ उठाकर नाचता हुआ शिष्य वहाँ से भाग गया। मैंने समझ लिया, अपने सहपाठियों को वह खुशखबरी सुनाने जा रहा है।

उसके जाने पर शास्त्रीजी बोले—"मूर्ख है, कुछ भी ज्ञान नहीं। शिक्षा देने का धर्म ग्रहण कर लिया है, इसलिये अपने यहाँ से इसे निकाल नहीं सकता, नहीं कभी का भगा देता। खैर, कल शाम को पुरातत्व-विज्ञान-सभा ने मेरे व्याख्यान का इंतिजाम किया है। सुनने तो आओगे न?"

"अवश्य।" कहकर मैं चुपचाप खिसक आया। मुझे इस बात पर आश्चर्य हो रहा था कि शिष्य के पागल कह देने पर भी शास्त्रीजी ने डंडा क्यों न ताना! मैंने तो कुछ भी ऐसा सख्त कलाम न कहा था, फिर भी हज़रत बिगड़ खड़े हुए थे, पर शिष्य का वह तीखा शब्द इस तरह पी गए, जैसे कालीमिर्च मिला शरबत। क्या रहस्य है, यह समझ में न आया। क्यास चमुच पागल हैं, इसलिये नहीं बिगड़े?

दूसरे दिन शहर के हर एक पत्र में पुरातत्व-विज्ञान-सभा के सेक्रेटरी का नोटिस निकला—

शात बजे ठीक शात बजे
श्रीशोंटानंद शास्त्री शाहब का पुरातत्त्व-विज्ञान-शभा की ओर से एक शुंदर व्याख्यान एक बहुत विख्यात विषय पर आज शंध्या को शात बजे श्री श्रद्धानंद-पार्क के शामने होगा। अतः शब महाशयों से शविनय और शानुरोध निवेदन है कि शमय पर शमुपस्थित होकर शभा की शोभा बढ़ाते हुए शिक्षा शंग्रम करें।

हस्ताक्षर शेक्रेटरी

छः बजे से ही सारा शहर श्रद्धानंद-पार्क को ढुलक चला। लोग इस तरह उत्सुकता से जा रहे थे, जैसे किसी की फाँसी का दृश्य देखने जा रहे हों। मैं भी शास्त्री शाहब की नज़र बचाता

हुआ चुपचाप पार्क तक पहुँच गया। ऐसी जगह जाकर खड़ा हुआ, जहाँ कोई मुझे देख ही न सकता था।

ठीक सात बजे शास्त्रीजी मंच पर खड़े हुए। उनके सिर पर उस समय इतना बड़ा पग्गड़ था कि जिससे उनका सिर तो सिर, सारा शरीर छिप गया था ऐसा मालूम होता था, जैसे बड़ा भारी गट्ठर सिर पर रक्खे शास्त्रीजी कहीं जाने के लिये उठ खड़े हुए हों। और, जब अपना केंचुए के आकार का केंजुआ पहाड़ से लाया हुआ डंडा मंच पर उन्होंने पटका, तब एक मनचले से न रहा गया। बोला–"अरे शास्त्री शाहब, बैठिऐ, बैठिए, कहाँ चले? आपके बिना तो शारी शभा शूनी हो जायगी।"

एक दूसरे मसखरे ने फरमाया—"अरे महाराज, यह गट्ठर तो सिर से उतार कर रख दीजिए, वजन के मारे आप दबे जा रहे होंगे। इतमीनान रखिए, उसे कोई उठा न ले जाने पाएगा। कहिए, तो सिटी-सुपरिंटेंडेट से कहकर पुलिस का एक जवान पहरे पर बैठा दूँ।"

शास्त्री शाहब ने इस श्वान-बुकन की कोई परवा न कर फिर डंडा ठोंकते हुए कहना आरंभ किया—

"प्यारी बहनो (हमें कहते दुःख होता है कि बहन वहाँ एक भी न थी) और भाइयो! आशा है, आप शब शज्जनों ने नोटिश पढ़ा होगा। इसमें कोई शंदेह नहीं कि पुरातत्व-विज्ञान-शब्द बहुत कठिन है, पर मैं उम्मीद करता हूँ कि आप लोगों

ने इशका कोई-न-कोई अर्थ लगा ही लिया होगा, क्योंकि आप लोग भी अपने को आदमी कहने का दावा करते हैं। उश हशियत शे आपके पाश दिमाग़ का बचा-खुचा हिश्शा जरूर पहुँचा होगा, जिशकी शहायता से आप कुछ--न-कुछ, चाहे वह कुछ-का-कुछ ही क्यों न हो, अवश्य शमझ जायँगे। आज अगर इश शब्द के अर्थ पर मेरा व्याख्यान होता, तो मैं आपको इशका मतलब इस शुंदरता शे शमझाता कि आप एकदम फड़क उठते। पर चूँकि आज का विषय भिन्न है, इशलिये आपके फड़कने की राह देखे बिना ही मैं आगे बढ़ता हूँ। अस्तु।

"आज मैं आपको अपनी उश खोज के विषय में कुछ शुनाऊँगा, जो पुरातन कवि तुलशीदाश के शंबंध में, बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का शामना करते हुए, मैंने की है। हिंदी-कवि-कुल-गुरु तुलशीदाश के विषय में आज तक बहुत कुछ मालूम हो चुका है। बेनीमाधव-कृत 'मूल गुशाईं-चरित' शे गोश्वामीजी के बारे की प्रायः शब शच्ची-शच्ची बातें जानी जा शकती हैं। उशी के आधार पर बाबू श्यामशुंदरदाश ने गोश्वामीजी की जीवनी लिखी है, और उशी की हिम्मत पर शहायजी की बहुत-शी बातों का खंडन उन्होंने किया है। रामचंद्रजी शुक्ल ने भी गोश्वामीजी के विषय में बहुत कुछ लिखा है, पर खेद की बात तो यह है की किशी भी विद्वान् ने इश बात पर प्रकाश नहीं डाला कि गोश्वामीजी चाय के बहुत भारी शौकीन थे!

शुबह पूजा शे पेश्तर एक गिलाश, खयाल रखिए, एक गिलाश, क्योंकि प्याले उश शमय तक न चले थे, चाय पी लेते थे, बाद में पूजा पर बैठते थे। यह बात उनके इश दोहे शे मालूम होती है—

'तुलशी चाह पियौ शदा......' याद रखिए, उश ज़माने में चाय को चाह कहते थे। हाँ तो—

"तुलशी चाह पियौ शदा, छाँड़ि पुजापा, काम;
चाह करो नित चाह की, भोगो शब आराम।

"हमारे पाश इश बात का विशिष्ठ प्रमाण है कि यह दोहा गोश्वामी तुलशीदाश का ही लिखा है। जिन शज्जनों को शंदेह हो, वे शभा शमाप्त होने पर मुझशे अपनी शंका का शमाधान कर शकते हैं।

यह हमने शिद्ध कर दिया कि महात्मा तुलशीदाश चाय के करारे भक्त थे। पर अपने जीवन के कितने शाल उन्होंने चाय पीकर काटे, यह हम नहीं कह शकते, क्योंकि इश विषय में शब विद्वान् चुप हैं। फिर भी, उन्होंने कई वर्ष तक इशका शेवन किया होगा, ऐशा हम अनुमान कर शकते है। और, हम तो यहाँ तक कहने को तैयार हैं कि जब तक 'रामचरित-मानश' का निर्माण होता रहा, तब तक गोश्वामी जी शुबह-शाम चाय का पारण करते रहे। बिना चाय पिए क्या वह कभी इतना अच्छा ग्रंथ लिख शकते थे? ......" ताली की गड़गड़ाहट में शास्त्रीजी की आवाज़ गड़गई, इसलिये बेचारों

को चुप हो जाना पड़ा। चाय के भक्तों ने मौक़ा अच्छा देख दिल खोलकर ताली पीटना शुरू कर दिया। दस मिनट बाद, जब ताली का ताँता टूटा, शास्त्री शाहब फिर बोलने लगे—

"लेकिन हमें बहुत दुःख है कि महात्मा तुलशीदाश आजन्म इश शौभाग्य को न भोग शके। यह तो मानी बात है कि जब गुरू चाय पिएगा, तो चेले भी गिलाश-पर-गिलाश ढालेंगे। गोश्वामीजी के यहाँ भी घड़े-पर-घड़े लुढ़कने लगे! गुरू तो गुड़ ही रहें, चेला शक्कर हो गए (श्रोताओं में हँसी की ध्वनि)। गोश्वामीजी पीते एक गिलाश, तो चेलाजी चढ़ाते चार गिलाश (फिर हंसी)! इश प्रकार गोश्वामीजी का खर्च दिन-दिन बढ़ने लगा। तब हज़रत को नक़ली शिक्का बनाने की शूझी, क्योंकि आमदनी का कोई अच्छा जरिया और न था। पर बेचारों की स्कीम बीच ही में फ़ेल हो गई। पुलिश बेतरह उनके पीछे पड़ी थी, इशलिये वह शोच-विचार कुछ कर न शके।" "राम-राम" किसी श्रोता ने ज़ोर से कहा।

"तब गोश्वामीजी को चाय का खर्च इसतरह अखरने लगा, जिस तरह आजकल के नौजवानों को बूढ़े मा-बाप का खर्चा अखरता है। वह किशी ढंग से इश खर्च शे अपना पिंड छुड़ाना चाहते थे, पर कोई उपाय न शूझता था। हनुमान्‌जी शे अपने भक्त का यह कष्ट न देखा गया। एक दिन वह एक शिष्य

का श्वरूप रख, गोश्वामीजी की कुटी में उनके लिए एक बड़े गिलाश में चाय लिए हुए उनके शामने प्रगट हुए। गोश्वामीजी ने चाय देखी, तो आशन से उछल पड़े। गिलाश हनुमान्‌जी के हाथ शे लेकर एकदम मुँह में लगा लिया, और गट-गट पीने लगे। पर पहला कुल्ला पीकर ही गिलाश उन्होंने हाथ शे छोड़ दिया और चाय भी मुँह शे गिरा दी। बश, उशी दिन शे वह चाय के विरुद्ध हो गए। मैं आपको सलाह दूँगा कि यहाँ पूछिए, 'क्यों' ?"

कहकर शास्त्रीजी प्रश्न सुनने के लिये रुक गए, पर दुर्भाग्य से किसी ने 'क्यों' न कहा। चाय पीनेवाले कुछ पूछना न चाहते थे, और चाय के विरोधि कुछ ठीक न कर सके थे कि क्या कहें। मैं किसी पार्टी का नहीं, इसलिये मैंने सोच लिया कि चुप रहना ही ठीक है, आप ही झक मारकर शास्त्रीजी उत्तर देंगे। सभा में सन्नाटा देख, शास्त्रीजी फिर कहने लगे—"बात ऐशी थी कि हनुमानजी जो चाए लाए, वह एकदम उबलती हुई थी, तथा उशमें थोड़ा गन्धक का तेजाब भी डाल दिया गया था। ज्यों ही लालच के मारे गोश्वामीजी ने चाय का कुल्ला मुँह में लिया, त्यों ही उनकी जीभ जल गई और चाय बाहर थूकनी पड़ी। लेकिन तेजाब अपना काम कर चुका था। उनके मुँह मे शुपारी-बराबर छाले पड़ गए, जिनके कारण फिर महिने-भर तक गोश्वामीजी कुछ खा-पी न शके। जब छाले किशी तरह

अच्छे हुए, तब चाय पीने की हिम्मत न रह गई थी। बश, उन्होंने चाय छोड़ दी, और यह दोहा लिखा—

'तुलशी चाह न पीजिए' फिर समझ रखिए, उश ज़माने में चाय को चाह कहते थे। हाँ तो—

"तुलशी चाह न पीजिए, चाह करै नुकशान ;
जीभ जरावत आपनी, शाँशत डारत प्रान।"

इस बार चाय के विरोधियों की बारी थी। उन्होंने जो ताली पीटनी शुरू की, तो आधे घंटे तक गड़गड़ाहट गूँजती ही रही।

ताली बंद होने की राह देखते खड़े हुए शास्त्रीजी के पैर जब दर्द करने लगे, बेचारे मंच पर बैठ गए। उनके बैठते ही ताली बंद हो गई। फिर उठकर खड़े हुए बोले— "इश प्रकार हमने शिद्ध कर दिया कि तुलशीदाशजी और चाय, या उश ज़माने की चाह, में घनिष्ठ शंबंध था। अब हम अपनी जगह पर बैठना चाहते हैं, लेकिन उशके पहले प्रश्नों का उत्तर दे देना ठीक शमझते हैं। जिशे जो कुछ पूछना हो, पूछे।"

उसी मनचले ने कहा—"महाराज, मैं एक बात पूछना चाहता हूँ। कृपा कर यह बताइए कि तुलशीदाशजी ने क्या कभी आपको चाय पिलाई थी ?"

"कैशे पागल हो! उश ज़माने में मैं वहाँ कहाँ था, जो वह मुझे चाय पिलाते ?" शास्त्रीजी ने उत्तर दिया।

"तब आपने कैसे जाना कि वह चाय पीते थे ?" उसने अपने एक साथी को आँख मारते हुए कहा।

शास्त्रीजी ने मंच पर डंडा ठोंका और बोले—"अच्छा, यह बात ! ठीक। मैं तुमशे एक प्रश्न करता हूँ। उत्तर दोगे ?"

"पछिए।"

"दारा शिकोह के विषय में तुम क्या जानते हो ?"

"महाराज दारा बड़ा दानी था।"

"तुम्हें दान में क्या क्या दिया था ?"

मनचले ने बिगड़कर कहा—"मैं किसी का दान क्यों लेने लगा। जिसे दिया होगा, उसे दिया होगा।"

"फिर कैशे जाना कि वह दानी था ?"

"इतिहास से।"

"बश, तुलशीदाशजी का जो इतिहाश मैंने लिखा है, उशमें देखने शे तुम्हें मालूम हो जायगा कि वह चाय पीते थे, और खूब पीते थे।" कहकर अंतिम बार डंडा ठोंकते हुए शास्त्रीजी बैठ गए।

---

# घड़ी

"घड़ी क्या ?"

"जो घड़ी-घड़ी देखी जाय ।"

( १ )

घुराऊसिंह मुंशी-पार्टी ( जिसे अधकचरे लोग, जबान चटकाकर, म्युनिसिपैलिटी कहते हैं ) की घास की टाल की तरह 'टाल' थे, पर इस तरह झुककर चलते थे, मानो अपनी टाल जाने की आदत के कारण ऊँचाई भी टाल देना चाहते हों । यदि बहुत-से गुणों-दुर्गुणों के साथ ब्रह्मा ने साम्यवादियों को सींग भी दे दिए होते, तो मामूली मनुष्य घुराऊसिंह को ठीक-ठीक पहचान सकते । पर वह साधन बैल-गाड़ी में स्पीड की तरह प्रस्तुत न होने के कारण बहुत-से लोग ग़लती कर जाया करते थे । एक दिन एक पुरने-धुराने, डाँग, बूढ़े घाघ यह खटराग लाए, और मुँह बिचकाकर लगे कहने—"अरे घड़ी, तुम तो अभी जवान हो । इस उमर में ही झुककर चलने लगे ! बुढ़ापे में शायद सड़क पर डंड मारते चलोगे । कंधे सीधे करके क्यों नहीं चलते ?"

घुराऊसिंह उर्फ़ घड़ी ने और झुकते हुए उत्तर दिया—"यह समता का युग है साहब ! क़मीज़ के बटनों की तरह

बराबर होना चाहिए, कालर-बटन के समान किसी एक का बड़ा होना अन्याय है। आप लोग नीचे रहें, और मैं ऊँचा होकर चलूँ, यह मुझसे न होगा। आप कुछ ठिगने हैं। आपको मैं सलाह दूँगा कि घर के बाहर तुर्की टोपी और लेडी-शू का इस्तेमाल किया करिए।"

"मौके पर नालदार का ही इस्तेमाल करूँगा।" कहते हुए मजाक़ का मजा न समझने वाले वृद्ध सज्जन नाराज़ होकर, वहाँ से खरगोश की तरह, चले गए।

घड़ी देखकर आप चकरा गए होंगे; किस प्रकार घुरीऊसिंह घड़ी हो गए, यह जानने के लिये उत्सुक हो उठे होंगे। घुरीऊसिंह घुरऊसींग या घुरऊ या घुरू, यहाँ तक कि घुर्रा होना तो समझ में आ सकता है, पर एकदम शब्द का काया-पलट होकर घड़ी हो जाना कुछ ऐसा है, जो सरलता से समझ में नहीं आता। अतः इस लेख में हम यही गुत्थी सुलझाने का प्रयत्न करेंगे। घड़ी के गुणों की गठरी फिर कभी खोलने के लिये रख छोड़ते हैं।

( २ )

संस्थाएँ हजारों नहीं, सैकड़ों हैं, पर हमारे नगर की न-मंडल-सी संस्था किसी-ही-किसी शहर का चेहरा चमकाती है। बहुत-सी मंडलियों के बारे में सुना है कि बनीं, और टूट गईं; लेकिन न-मंडल का जब से जन्म हुआ, तब से बराबर प्रति-मास, शाम को एक बार, पार्क में उसकी बैठक होती देखी गई

है। कोई कहे, तो कहता रहे कि उसे बने दो माह ही हुए हैं। बहुत-सी संस्थाएँ ऐसी हैं, जिनमें लोग केवल चंदा देकर बेरोक-टोक भरती हो सकते हैं, पर न-मंडल ऐसा मामूली मंडल नहीं है। उसमें प्रवेश पाने के लिये चार आने ( रुपए का $\frac{1}{4}$ हिस्सा ) मासिक चंदे के साथ-साथ ( बाई दि वे, यह चंदा मंडल की बैठक के दिन सिनेमा के सेकेंड शो में खर्च किया जाता है ) मासिक चंदे के साथ-साथ प्रत्येक मेंबर का 'न' होना अत्यंत आवश्यक है। न कहने से हमारा मतलब निषेधवाचक 'न' से नहीं, 'न' न-मंडल के प्रत्येक मेंबर का खास नाम है। 'दान घर से प्रारंभ होता है' के अनुसार मंडल ने जब शहर के बड़े-बड़े लोगों का नामकरण करने का भारी बोझ अपने सुकुमार (उस पर ध्यान दीजिए) कंधों पर उठाया, तब यही उचित जान पड़ा कि पहले मंडल के मेंबरों का ही नाम रक्खा जाय। चूँकि मंडल की पहली बैठक में मोहन, सोहन, योहन, जोहन, छोहन, गोहन, पोहन, फोहन आदि की ही अधिक संख्या थी, अतः यह तय हुआ कि पहले व्यंजन में 'ओ' की मात्रा तथा अंत में न होनेवाले नाम ही मंडल में रक्खे जायँ। और, मंडल न-मंडल तथा प्रत्येक मेंबर 'न' कहलाए। न कहने से कुछ न कहना चाहे अच्छा हो, पर प्रस्ताव बहुमत से पास हो गया। अतः जो 'न' नहीं थे, उनका चंदा उन्हें वापस कर देने का वादा कर, उन्हें सभा से निकाल दिया गया, तथा मंडल के 'न' ओं के साथ सिनेमा का सेकेंड-शो देखने के अधिकार से भी वे लोग

च्युत कर दिए गए।

दूसरी संस्थाओं में हमने देखा है कि लोग संस्था के कार्य का रिकाट ( जिसे ये अधकचरे लोग रिकॉर्ड कहते हैं ) बड़े-बड़े रजिस्टरों में रखते हैं, जिनके पेज-के-पेज काले करते चले जाते हैं। पर न-मंडल में यह कमजोरी नहीं। उसके मेंबर बुद्धि के पैनेपन के कारण बुद्धिमान—संसार में आदर्श— माने जाने योग्य हैं। वे मनोविज्ञान-विशेषज्ञों के लिये एक पहेली हैं, और ऐसा सुना जाता है कि अमेरिका में प्रत्येक के दिमाग़ : य आँका जाना प्रारंभ हो गया है, वे मंडल का रिकाट ( या आप कहना चाहें, तो रिकॉर्ड कह लीजिए ) जबान पर रखते हैं। स्थानीय विज्ञान-मंडल की उक्त कम-जोरी पर न-मंडल के 'न' ओं को हमने मुँह में रुमाल लगाकर हँसते देखा और हृदय से उनकी हँसी का अभिनंदन किया है। पीला-नीला मिला कर हरा कर देने वाले अपने ऐसे मामूली कामों का रिटक (या मैं तो नहीं कहना चाहता, रिकॉर्ड) रक्खें, तो ल सभ्य सज्जन को हँसी न आएगी? यहाँ 'न' मंडल को देखिए, नाम रखने का-सा भारी भार भी जीभ-सी पतली चीज़ पर चलता है।

दर्शन-सभा पर भी उनका मुस्किराकर आँख चलाना वाजिब ही है। दार्शनिक संसार को असार मानते हैं, दुनियाँ उनकी दृष्टि में कुछ भी नहीं है, जो कुछ हैं वे हैं या उनके विचार;

पर जब उनकी बैठक होती है, टीमटाम देख लीजिए। सभापति के लिये गद्देदार बड़ी कुर्सी चाहिए, टेबिल चाहिए, टेबिल पर टेबिल-क्लॉथ, टेबिल-क्लॉथ पर गुलदस्ता, गुलदस्ते पर फूल, फूल पर पत्ते और पत्तों पर मक्खियाँ होनी चाहिए। सभासदों के लिये कुर्सियों के ठट्ठ लगा दिए जाते हैं। जिसे देखिए, वही दाहिने हाथ की पहली दो उँगलियों और अँगूठे से अपनी नेकटाई ठीक करता नजर आता है, या बाएँ हाथ से कान तथा बाएँ हाथ से नाक खुजलाता देख पड़ता है। यहाँ 'न'-मंडल को लीजिए, न भड़भड़, न टीमटाम। पूर्णिमा की शाम को पार्क ही में इने-गिने आदमी इकट्ठे हो गए; न सभापति को परखना, न सेक्रेटरी की राह देखना। धोती समेट कर घास पर पल्थी मार ली, और काम शुरू कर दिया। जातीय सभाओं की तरह किसी को बीड़ी सिगरेट दिखाने की आवश्यकता नहीं; जिसे पीना हो, जेब से निकालकर पी ले, नहीं बैठा मुँह ताकता रहे। साहित्यिक सभाओं की तरह, जो चाहे वही, मंडल की बैठक में नहीं आ सकता, यह अधिकार केवल नक्कों को प्राप्त है। अगर कोई भूला-भटका पास आ खड़ा हुआ, तो न लोग उनसे चले जाने को कदापि नहीं कहते, तुरंत अपना विषय छोड़ किसी अज्ञात व्यक्ति की नाक मूँगफली-सी है, आँखें फाउंटेनपेन के निब की तरह हैं, इत्यादि के साहित्यिक विषय पर आ जाते हैं। ऐसी उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ खोजते हैं, ऐसी कल्पना की उड़ान लेते हैं कि बेचारा आगंतुक अपना लाल मुँह लिए वहाँ से हट ही

जाता है।

न-मंडल की दूसरी बैठक में घुरीऊसिंह का केस पेश हुआ। घुरीऊसिंह के मुहल्ले के न ने प्रस्ताव किया—"आज घुरीऊ का कोई नाम सोचना चाहिए।"

एक दूसरा 'न' चट बोल उठा—"नहीं, मधुसूदन साहु का नाम रखने के लिये आज की बैठक है। उसका कोई नाम सोचना चाहिए।"

लेकिन घुरीऊसिंह बड़े थे, मधुसूदन ठिगना; वह घुरीऊ की घनी छाया में छिप गया। संसार का नियम है कि बड़े को पहले मान देते हैं, छोटे को पीछे। अतः बहुमत से तय हुआ कि घुरीऊसिंह का मामला ही पहले निपटाया जाय।

प्रस्तावक 'न' ने कहना प्रारंभ किया—"नाम रखने का काम कितना कठिन है, यह सब लोग नहीं जानते। मेरे पिता पंडित थे, आए दिन लड़कों का नामकरण किया करते थे। उनकी कठिनाई मैं देखता था। दिन-भर रोटी खाने घर न आते थे, यजमान के यहाँ ही रह जाते थे। पहले से कह दिया करते थे—"आज मैं ग़रीबदास या दीनदास या भिखारीदास के यहाँ जा रहा हूँ, उसके लड़के का नाम रखना है, परिश्रम करना पड़ेगा, ग़लती होगी, तो मेरा नाम रक्खा जाएगा। कदाचित् सारा दिन लग जाय। मेरे लिये आज भोजन न बनाना।...हाँ, बस्ते में छोटी चादर बाँध देना।" यह जरूर सच है कि कुछ रात गए वह जब लौटते, तब चादर बस्ते के बाहर एक दूसरे बंडल के रूप में रहती थी।

पर सोचिए तो, दिन-भर घर में भोजन न करना क्या मामूली बात है? दिन-भर लग्न शोधकर, राशि-चरण देखकर शाम के समय पिता जी किसी बच्चे का नाम रक्खा करते थे। उनसे एक-आध बार पूछने पर मालूम हुआ कि इस प्रकार दिन-भर वह बच्चे के गुणों का विचार किया करते और तब गुणों के अनुसार उसका नाम रखते थे, जिसमें वह 'यथा नाम तथा गुण' हो। घुर्राऊ का नामकरण मेरे पिता ने नहीं किया, न ही कभी ऐसा बेमेल, बेसिर-पैर का, बेमतलब, बेहूदा नाम न रखते। नाम रखने वाले पंडित की ग़लती ठीक करने के लिये ही हम आज यहाँ बैठे हैं, अतः खूब सोच-समझकर, अपने भार का ध्यान रखते हुए, कोई नाम चुनिएगा।"

एक 'न' बोला—"गुण के अनुसार ही नाम रखना उत्तम है। मेरे काका कलकत्ते के एक कुछ फद्दू काले कश्मीरी बहुत तेज़ चलाता था। कहीं जाता, तो झपटता हुआ तेज़ी में कई बार, उसके धक्के से आदमी गिर कर चोट खा गए। सैकड़ों साइकिलें सख़्त घायल हो गईं, बीसियों ताँगों के घोड़े कुचलते-कुचलते बचे। अतः कलकत्ते के कॉरपोरेशन ने उसके लिये क़ानून बनाया कि वह अपनी कमर में एक हॉर्न बाँधे, और शहर से निकलते समय उसे बजाता जाया करे, जिससे लोग टकराकर व्यर्थ चोट न खाएँ। उसके ऐसा कर लेने पर भी एक मोड़

पर, एकदम सर्राटे में घूम जाने के कारण अक्सर वह लोगों को लहू-लुहान कर दिया करता था। हेरिसन-रोड के चौरस्ते पर का पुलिसमैन कई बार उसकी हवा के झोंके से सड़क पर गिर कर दूसरी ओर से आती हुई मोटर के नीचे दबता-दबता बचा। अतः एक दूसरा नियम बनाना पड़ा कि जिस ओर उसे घूमना हो पहले से ही हाथ उठाकर वह दिशा सूचित कर दे, ताकि पुलिसमैन हटकर हो सके, तथा हाथ उठाकर बाकी ट्रैफिक रोक सके। तब से वह आदमी हॉर्न बजाता चलता है, और मोड़ पर हाथ उठाकर अपने घूमने की दिशा दिखाता है। उसके इन्हीं गुणों को लेकर मेरे काका ने उसका नाम मोटर रख छोड़ा है।"

प्रस्तावक ने बोला—"वाह, कितना चुभता नाम है, ठप्पे के समान ठप्प से बैठता हुआ! मैं भी चाहता हूँ कि गुण देखकर ही घुरीऊ का नाम रक्खा जाय। सबसे पहले, वह मामूली आदमियों से बहुत ऊँचा है, लेकिन इससे कोई न भाई उसे ऊँट कहने की कोशिश न करें। न-मंडल किसी की जूठन नहीं लेता। ऊँट नाम बहुत जूठा है।"

"बेशक, बेशक।" न लोग बोले।

दूसरा न बोला—"ऊँचा होने के साथ-साथ घुरीऊ कुछ झुका भी है।"

तीसरे ने कहा—"झुका होने के साथ-साथ उसमें खुद कोई

काम करने की शक्ति नहीं है। जब कोई उसे कुछ सुझाता है, कुछ दिखाता है, तब वह कुछ कर पाता है, यहाँ तक कि बिना बताए राह भी नहीं चल पाता।"

"यह सबसे बड़ा गुण है, यह सबसे बड़ा गुण है।" न लोग बोले।

चौथा न बोला—"उसका नाम लाठी रखना चाहिए।"

प्रस्तावक न झट फुफकार उठा—'लाठी? लाठी लंबी तो होती है, पर मोटी कहाँ होती है? साथ ही घुर्राऊ का घड़े-सा बड़ा सिर उसमें कहाँ अँटेगा?"

"तो ताड़ नाम रक्खो।" पाँचवें ने कहा।

"ताड़ चल भी सकती है? वह गुण कहाँ डालोगे? दूसरे, ताड़ ऊँट की तरह जूठा नाम है। ताड़ न चलेगा।"

एक न अभी तक बिलकुल न बोला था, उसने कहा—"क्लॉक क्यों नहीं कहते?"

सब न अँगरेजीदाँ थे, यह हमने ऊपर कहीं नहीं कहा। अँगरेजी-भाषा का जीवन सार्थक बनाने में जिसने हाथ न बँटाया था, ऐसे एक न ने पूछा—"कॉक क्या?"

"कॉक नहीं, क्लॉक, दीवाल-घड़ी।"

प्रस्तावक न कहने लगा—"क्लाक! हाँ, यह शब्द अवश्य नया, अतः विचारणीय है। क्लाक मामूली घड़ियों से बड़ी होती है, आकार घुर्राऊ से बहुत कुछ मिलता-जुलता है, काँटों में तिरछापन पाया जाता है। सबसे बड़ी बात, वह चलती

भी है, पर दूसरे के भरोसे। आज कान न उमेठो, कल क्लाक खड़ी-की-खड़ी। इसलिये मैं प्रस्ताव करता हूँ कि घुरीऊसिंह का नाम क्लाक रखना चाहिए।"

बैठक के शुरू में जिस न ने मधुसूदन साहु की डफली बजाई थी, उसने आपत्ति की—"लेकिन काक या क्लाक या तलाक़ जो कुछ भी हो, अँगरेजी नाम है, घुरीऊ हिंदुस्तानी है। हिंदू के लिये अँगरेजी नाम कैसा? मुसलमान लोग तो कभी शेरख़ाँ को टैगर सीटर नहीं कहते!"

"टैगर सीटर नहीं, टाइगर-ईटर।" उसके बाजूवाले न ने टोककर कहा।

"टैगरीटर सही। मुसलमान तो कभी शेरख़ाँ को टैगरीटर नहीं कहते। फिर हम ऐसा क्यों करें? हमें अपना देश, अपनी शिक्षा, अपनी भाषा भूल न जाना चाहिए। ऐसा करने से हमारी सत्ता न रहेगी। हम देश के प्रति, जाति के प्रति, समाज के प्रति कृतघ्नता का बर्ताव करते नज़र आवेंगे। भगवान् मनु ने एक जगह, कहाँ, यह इस समय याद होकर भी याद नहीं आता, एक जगह कहा है—"स्व नाम्ने निधनं श्रेयः परनामो भयावहः' अर्थात अपनी जाति, अपने देश, अपनी भाषा का नाम लिए हुए चाहे कोई निर्धन भी हो जाय, तब भी वह श्रेष्ठ है। हे भाइयों, दूसरे देश का नाम मत लो। इसीलिये मैंने प्रारंभ में ही कहा था कि घुरीऊ को रहने दो, मधुसूदन...।"

"ठीक है, ठीक है। क्लॉक नाम ठीक नहीं।" न लोग बोल उठे।

प्रस्तावक न ने मधुसूदनी न पर एक तिरछी नजर डाली। धोती खींचकर खड़ा हो गया, बोला—"तो जाने दीजिए। कोई अंट-संट नाम रख दीजिए, कुछ भी अल्लम-गल्लम कह डालिए। लेकिन यह याद रखिए कि इससे अपने न-मंडल की कितनी बदनामी और नाक़दरी होगी। लोगों की दृष्टि में इसका आदर उठ जायगा। अपनी एक ही बैठक में मंडल ने जो धाक जमा ली है, उस पर पानी फिर जायगा। अखबारों को प्रथम पृष्ठ के लिये मैटर तथा मसखरों को उसका मजाक उड़ाने का मौक़ा मिल जायेगा। मंडल की नाक कट जायगी, इसका भी कुछ ध्यान है? फिर, मंडल का उद्देश है यथा गुण तथा नाम। उस उद्देश से भी वह गिर जायगा। क्लॉक से बढ़कर नाम आपको दुनिया में न मिलेगा। हाँ, यह मैं मानता हूँ कि शब्द अँगरेजी का है, उसके लिये आप उसका पर्यायवाची शब्द दीवाल-घड़ी ले सकते हैं।"

प्रस्तावक न के शब्दों में जोर था, सभा उस ओर झुक रही है, देखकर हताश होते हुए मधुसूदनी न ने तिनके का सहारा लिया। मारीच की तरह अंत तक वफ़ादारी बतलाते हुए उसने धीरे से कहा—"दीवाल-घड़ी भद्दा है।"

"हाँ, कुछ जँचता नहीं।" न लोक हिचकिचा रहे थे, निश्चय न कर पाए थे, अतः धीरे से बोले।

क्लाक का विचार देने वाले अल्पभाषी न ने कहा—"तो घड़ी ही क्यों नहीं कहते ? घड़ी कितना सुंदर शब्द है, इस पर घड़ी-भर सोचिए। घड़ी-घड़ी ऐसे शब्द नहीं मिला करते, इसलिये मेरी राय है कि इसी घड़ी इसे अपना लिया जाय।

"वाह ! वाह !! घड़ी सुंदर है। घड़ी ठीक है ।" निश्चय करने के लिये नत्रों को और रुकने की आवश्यकता न थी, एकस्वर में बोल उठे।

बहुमत से तय हो गया कि घुरोऊसिंह का नाम घड़ी रक्खा जाय। दूसरे दिन घुराऊसिंह को घर के आँगन में एक काग़ज़ पड़ा मिला, जिसके साथ एक चौकोर पत्थर भी बँधा हुआ था। काग़ज़ में लिखा था—"आज से तुम्हारा नाम घड़ी रक्खा जाता है।"

उस काग़ज़ को तो घुरोऊसिंह टाल गए, पर न-मंडल के नत्रों द्वारा रक्खा घड़ी नाम न टाल सके।

## दसवाँ रस

जब से काव्य-कला की करतूत कौंधा की तरह इन कालों के देश में चमकी, तब से प्रारंभ कर आज तक रस के रस-हीन विषय को लेकर विद्वानों में खूब बमचख, खूब घमासान गुत्थम-गुत्था होता रहा है। भामह और विश्वनाथ ने आठ ही रसों की सँक्शन दी थी, पर कय्यट, मम्मट, लोल्लटादि लोटाधारियों ने एक नवें रस—शांत रस—को पुरुष और पंच-महाभूतानि से गढ़करउस सँक्शान-शुदा शीट में शुमार कर दिया। दूसरे विद्वानों को इतने पर भी चैन न मिली। यश की आशा से रात को जागकर और दिन को सोकर वात्सल्य तथा भक्ति नाम के दो रसों को खुदा जाने कहाँ से खोदकर निकाल लाए, और लगे उन्हें रसों की रस्सी में 'रीफ़-नॉट' लगाकर गठियाने। लेकिन, खेद है, उनके प्रयत्न की गाड़ी चल न सकी, फ़ेल हो गई। विद्वन्मंडली ने वात्सल्य और भक्ति को चुटकियों में उड़ा दिया, और पुराने नव ( नए नहीं ! ) रसों को ही प्रधानता देकर उन्हें थामे बैठी रही। ऐसा क्यों हुआ, इसके लिये कई भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ लोगों का कहना है कि वात्सल्य और भक्ति के भांडार का द्वार खोलने-वाले सज्जनों ने उस समय के नामी विद्वानों को, उनके इच्छा प्रकट करने पर भी, टी-पार्टी नहीं दी, इसलिये

उन्होंने प्रयत्न करके इनका बहिष्कार ही कर दिया। कुछ विद्वान यह कारण बतलाते हैं कि उन दिनों शाक्तों के वाम-मार्गियों के प्रवाह में इतनी बाढ़ आ जाती थी कि वात्सल्य और भक्ति की बात तो दूर, इनके हिमायती तक उसमें पड़ बुरी तरह बह जाते थे। और, इस तरह बहते बहते इतनी दूर तक बह गए कि उनका अस्तित्व ही मिट गया। पर हमारा विचार तो यह है कि वात्सल्य और भक्ति को रस मान लेने से "एते नवरसाः स्मृताः" वाला श्लोक रद्द हो जाता। उसमें दो रस और जोड़कर "एकादशरसाः स्मृताः" करना पड़ता, जिससे श्लोक में दो रसों के बराबर की मात्रा अधिक हो जाती। यदि यहाँ कोई यह कहना चाहे कि ग्यारह रस हो जाने पर दूसरा श्लोक भी तो बन सकता था, तो हम निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि ऐसा करना कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव भी था। क्यों? यह हम नहीं जानते, कहते हैं सब। और, यही कारण है कि इस झगड़े से दूर रहने के लिये विद्वानों ने अंतिम दोनों रसों का गला ही घोट दिया।

ऐसा कर उन्होंने अच्छा किया या बुरा, पाप किया या अपराध, इसका विवेचन हम इस समय न करेंगे। जिस बात पर जोर देंगे, वह यह है कि उन्होंने एक बहुत बड़ी भूल कर डाली है। एक ऐसे रस की गणना उन्होंने रसों में नहीं की, जिसके बिना मनुष्य-जीवन असंभव है। हरएक घर, प्रत्येक

मनुष्य में हम उस रस का प्रभाव देखते हैं, पग-पग पर उस रस में लिपटे, उसकी लहर के कारण जीवन-पथ में लहराते लड़खड़ाते मनुष्य दिखाई पड़ते हैं वह रस है मौर्ख्य रस। मूर्ख में यत्न प्रयत्न लगा दीजिए, मौर्ख्य बन गया। यदि ध्यान-पूर्वक देखा जाय, तो प्रत्येक रस में यह रस अंतर्लीन है। शृंगार के आधिक्य, भय की भयानकता, क्रोध की प्रचुरता में कौन रस आ मिलता है? मौर्ख्य रस। और, हास्य से तो इसका सगी बहन का-सा संबंध है। इसके अतिरिक्त हम जिस ओर देखते हैं, इस रस का प्रचंड प्रसार और पूरा प्रचार पाते है, कहीं खूब गाढ़ा-गाढ़ा कहीं हल्का-हल्का। विद्वान्-से-विद्वान् मनुष्य भी इस रस के घाव से बच नहीं सकता। जीवन-रूपी खप्पर पर कभी-न-कभी मौर्ख्य रस-रूपी कौआ बैठ ही जाता है। इसका स्थायी भाव मूर्खता तो मनुष्य से लगाकर पशु, पक्षी और चींटी में भी थोड़ा-बहुत अवश्य ही पाया जाता है। ऐसा व्यापक रस होने पर भी विद्वानों ने इसकी ओर ध्यान नहीं दिया, यह खेद का विषय है, रोने की बात है।

आप कह सकते हैं, मूर्खता स्थायी नहीं, एक प्रकार की प्रवृत्ति है। हम कहते हैं, जो प्रवृत्ति जाग्रत होकर रस का रूप ले सके, और शारीरिक अवयवों को किसी निश्चित ओर काम में लगा सके, वह स्थायी भाव नहीं, तो क्या मोटर-साइकिल है? अतः व्यर्थ का विवाद न बढ़ा विद्वानों कर को उचित है कि मौर्ख्य रस को एकदम रसों की श्रेणी में लटका

दें। "नवरसाः स्मृताः" वाले श्लोक की ओर से तनिक भी न डरें, न झिझकें मैंने वह कठिनाई हल कर ली है। पूछने पर इसी श्लोक में दस रसों की उपस्थिति उपस्थित कर सकता हूँ। हाँ, हो सकता है कि मौर्ख्य-सा शब्द सर्व-साधारण न समझ सकें, अतः इस शब्द का पाली, प्राकृत, पैशाची या ब्राचड़ में 'मोक' या 'भोक' जो शब्द बनता हो, वही रस का नाम रख दिया जाय। सरल तरीक़ा तो यह है कि एक कमीशन बैठा दिया जाय; जो नाम पर अपनी रिपोर्ट लिखडाले।

किंतु आजकल प्रथा कुछ ऐसी है कि जब तक कोई समर्थक न हो, किसी के कथन का बोझ हिंदी के विद्वानों पर नहीं पड़ता। अतः उन्हें बोझ से दबाने के लिये मैं श्रीअंगुष्ठव्रण का अभी हाल में दिया भाषण यहाँ उद्धृत कर देता हूँ।

श्रीअंगुष्ठव्रणजी ने अभी हाल ही में कुछ पास किया है; क्या, सो पूछने पर भी नहीं बतलाते। उस दिन सेठ चाटूमल के यहाँ कुछ विद्वानों की चाट की पार्टी थी। चाट से केवल चाट न समझिए, जिसकी चाट लग जाती है, बल्कि वे सभी चीजें समझिए, जो हलवाई के यहाँ बिकती हैं। अंगुष्ठव्रणजी भी गृह पवित्र करने का पुण्य लूटने से वंचित न रहे।

दोनों के दौर के बीच जीभ चटकाकर लाला कुर्सीमल ने कहा—"नानखटाई में कौन रस है ?"

चटनी चाटते-चाटते अंगुष्ठव्रणजी बोले—"नान खटाई। ख होने से परुषा वृत्ति हुई, इसलिये रौद्र रस होना चाहिए।

लेकिन ठहरिए, न अनखताई, नाराजी नहीं, यह तो रौद्र रस नहीं हो सकता, तो फिर शांत रस कहिए।"

कुर्सीमल कुछ देर तक उनका मुँह ताकते रहे, फिर बोले— "भैया, यह तो मैं न समझा। मालूम नहीं, आप क्या कह गए। बिंजन खट रस परकार का होता है न? मैं तो उसी के बारे में पूछ रहा था।"

अंगुष्ठत्रणजी ने कहा—"समझो क्या, समझ हो तब तो समझो। तुम में मौर्ख्य रस का प्राबल्य है।"

लालाजी समझे, मौर्ख्य रस कोढ़ की तरह कोई रोग है, घबरा गए, बोले—"क्या है मुझमें?"

ऐंठकर अंगुष्ठत्रणजी बोले—"मौर्ख्य रस, मौर्ख्य रस।"

दूसरे विद्वानों के कान उत्सुकता द्वारा पकड़कर ताने गए, चौकन्ने होते हुए बोले—"क्या कहा आपने? क्या बोले?"

अंगुष्ठत्रणजी अपनी ऐंठ में दस का गुणा करने को जरा रुके, हिसाब जमते ही बोले—"मौर्ख्य रस, मौर्ख्य रस।"

मंडली में हलचल मच गई। एक ने कहा—"यह क्या है?" दूसरा बोला—"यह तो कभी सुना ही नहीं।" तीसरे ने दावत के इंतजार में दो दिन से कुछ खाया न था। "उँह कोई कह दो, बेवक़ूफ़ी न करें, मौका कहे मौका, खाना है, तो मिठाई खाय मात्रा क्यों खाता?" कहकर पत्तल पर झुक पड़ा। एक सज्जन से न रहा गया, कह ही उठे—"समझाकर कहिए, आपका मतलब क्या है?"

अंगुष्ठगण जी बालूशाही का दोना बाएं हाथ में थामे, दाहने हाथ से एक टुकड़ा मुंह में रखने जा रहे थे। उसे फौरन् वापस दोने में रख लिया। दोना कोट की जेब के हाथ में देते और आस्तीन से मुंह पोंछते हुए खड़े हो गए। मुँह की मिठाई निगलकर बोले—"सिद्धश्री सर्वोपमा योग लिखी यहां से श्री अंगुष्ठगणजी का सब सज्जनों को साक्षात् राम-राम पहुंचे। आगे हाल १ बंचना कि जो आपने मुझसे प्रार्थना की कि मैं आपको मौर्ख्य रस समझाने का कष्ट उठाऊं, सो मैं स्वीकार करता हूं। एक, दो, तीन, । खांसी खांसकर मैं शुरू करता हूँ, सुनिए—

"मौर्ख्य रस को मैं सिरसे पैर तक समझा सकता हूं, इसमें तो किसी को शक हो ही नहीं सकता। परंतु वैसा करने में समय इतना अधिक लग जाएगा कि आप खाते खाते यहीं लम्बी तान देने का रेजोल्यूशन मन-ही-मन पास कर डालेंगे। अतः वह विषय फिर किसी दिन प्रातःकाल के लिए छोड़ देता हूं। इस समय आपकी बुद्धि में अटने लायक केवल दो-चार मोटी-मोटी बातें ही बतलाकर आपको संतुष्ट होने पर मजबूर करूँगा।

"मुख्य विषय पर आने के पहले मैं आपको बतला देना चाहता हूं कि मौर्ख्य है क्या? मौर्ख्य एक शब्द है। यह शब्द आप लोगों के सुपरिचित, अति परिचित मूर्ख शब्द से बना है यदि आप पूछें कि भाई जान, मर्ख शब्द कैसे बना?

तो मैं यह भी बता सकता हूँ। जिन्होंने कभी अँग्रेजी-भाषा की खाल खींची है, वे जानते हैं कि उस भाषा में एक प्रसिद्ध शब्द है मूर, जिसका अर्थ होता है मरु। उस मूर को ख प्रत्यय खिलाने से मूर्ख पैदा हुआ, जिसका अर्थ उस मनुष्य से लिया जाता है, जिसका दिमाग़ एकदम मरुस्थल हो। बस फिर क्या था, मूर्ख के मिलते ही मार-मारकर हकीम की तरह उसे मौर्ख्य बना लेना क्या मुश्किल था? वह तो इस तरह बन गया, जैसे आपके तमाखू फाँखने पर पीक बन जाती है।

"एक राजा था, उसके एक रानी थी। रानी के एक लड़का था, लड़के के एक बहन थी, बहिन के एक छोटा भाई था, जो बहुत शैतान था। एक दिन उसे उसके शिक्षक ने चाकलेट दी। चाकलेट से चाक मतलब लेकर वह अपनी स्लेट पर लगा उसे घिसने। खूब दबाकर लिखने पर भी जब अक्षर न उभरे, तब आप नाराज हो गए, और चॉकलेट फेंककर शिक्षक के मुँह पर मार दी। शिक्षक बेचारा केवल एक शब्द कहकर रह गया। वह शब्द था मर्ख। ठहरिए, शब्द मूख नहीं था, शब्द कैसे मूर्ख होगा। मतलब मेरा यह कि शिक्षक ने राजा के उस छोटे छोकरे को मूर्ख कहा, और अपना सा मुँह लिए घर चल दिया। बस, तब से ही मूर्ख साहित्य में प्रचलित हो गया। हां, तो मैं क्या कह रहा था? हाँ ठीक स्मृति के स्क्रीन उन बातों का चित्र घूम गया।

तो इस प्रकार आप लोगों ने मौख्य शब्द बना डाला। मुझे बहुत कड़ा विश्वास है कि आज सभी सज्जन किसी-न-किसी सुअवसर पर मूर्ख नाम पवित्र कर चुके हैं, अतः इसके विषय में अधिक न कह मैं आगे बढ़ता हूँ, और केवल दो-एक मामूली बातों पर प्रकाश फेककर मुख्य विषय पर आता हूँ।

"अब देखिए, मूर्ख से मौर्ख्य तो निकला, पर मौर्ख्य का अर्क यानी रस किस हिम्मत से निकाला गया। विश्वास मानिए, यह रस कूटकर या कोल्हू में पेलकर नहीं निकाला गया बल्कि अक़्ल की सिल पर मौर्ख्य की भाँग को बुरी तरह घोटकर निकाला गया है। और, इसलिये जो घुटे हुए हैं, वे ही इसे चख सकते हैं। मौर्ख्य रस रस क्यों है, यह भी देख लीजिए, फिर तो मैं विषय पर आता ही हूँ।

"रस की निष्पत्ति के लिये चाहिए स्थायी भाव, विभाव अनुभाव और कोई एक गड़बड़ भाव, जिसे कुछ लोग संचारी कहते हैं। अब देखिए, मौर्ख्य रस में ये सब हैं कि नहीं। मौर्ख्य का स्थायी मूर्खता, आलंबन विभाव मूर्ख, उद्दीपन विभाव मूर्ख-क्रिया, गड़बड़ भाव या संचारी स्मृति और रस के दिल तक चुप जाने पर अनुभाव आँसू या मुँह उतरना या हँसी। इस प्रकार रस-परिपाक होता है।

"बिरादराने वतन! मैंने मान लिया, आप लोगों ने मुझे क्षमा कर दिया। क्यों? किसलिये? क्योंकि मैंने आप लोगों

को इधर-से-उधर खूब नचाया और, असली विषय पर अभी तक नहीं आया। विश्वास मानिए, यह विषय ही ऐसा संगीन है कि बोलते-बोलते श्रोता-ए-पाठक, न-न लेखक, उहुंक् बोलक यानी बोलनेवाला बहक जाता है। और, ऐसे अवसर पर सिवा माफ़ करने के आप और कुछ नहीं कर सकते, क्योंकि आपका और ज़ोर ही क्या है? या तो बहिर्मुख हो जाइए, मतलब, अपना बोरिया-बंधना समेटकर शब्द की तरह यहाँ से एकदम निकल जाइए, जो आप कर नहीं सकते, क्योंकि दोने आपकी क़मीज़ के छोर ज़ोर से पकड़े हैं, अथवा चुपचाप घुग्घू की तरह बैठ क्षमा करते जाइए। और चूँकि कोई सज्जन इस समय इस स्थान से पेंशन लेना ठीक समझते मालूम नहीं होते, मैं मुख्य विषय पर आऊँ या जाऊँ, टहलूँ या बैठूँ, आप क्षमा करेंगे ही। इसलिए अपना फिर अधिक समय व्यर्थ न खोकर और मुख्य विषय किसी दिन प्रातःकाल के लिए छोड़कर मैं आपको उस सर्वांतर्यामी रस की एक कविता सुनाता हूँ, और अपनी पत्तल ग्रहण करता हूँ—

टाट औ' टट्टे में टट्टी फिर गया टट्टू कोई,
घास में घीसू घुसा, जब बज उठा घंटा कोई।
खाट पर खटमल पड़े, खरताल बजवाता कोई;
कब? कहाँ? कालेज में क़ाबिल कहाता है कोई?

एक, दो तीन। खेल खतम, पैसा हज़म!"

## [illegible]

( २ )

मिस्टर लामटोंगा उन आदमियों में से हैं, जो अपने को सफ़ाई के चौबीस अवतारों का एकीकरण मानते हैं। कपड़े तो धोबी को हम-आप सभी देते हैं, किंतु थाली-लोटा देते हमने मि० लामटोंगा को ही देखा त्योहार या शादी-विवाह के उपलक्ष में इनाम-भेंट-स्वरूप नहीं, धोने के लिये। कुछ मित्रों का तो यहाँ तक कहना है कि मि० लामटोंगा को कई बार धोबी के यहाँ जाते उन्होंने स्वयं अपनी आँखों देखा है। हाँ इतना हमें उन मित्रों से पूछना है कि उन्होंने उन्हें धोबी के यहाँ धुलने के लिये जाते देखा या कुछ धुलाने के लिए। घर के कमरे और फ़रनीचर धोते तो हमने भी कई बार देखा है। इससे आप यह न समझ बैठें कि मि० लामटोंगा कंजूस हैं, राजों का ( राजों का नहीं! ) पेट मारने के लिए खुद घर पोत लेते हैं या बढ़इयों की बाढ़ रोकने के लिये टेबिल-कुर्सी में पॉलिश-वार्निस स्वयं कर लेते हैं। घर से बेजा दबाव पड़ता हो, सो बात भी नहीं। ऐसा वह स्वेच्छा से, स्वच्छता का नाम स्वच्छ रखने के लिये करते हैं। जूतों के विषय में जोखू नाई कहता है कि जब रात का भोजन कर आप सिगरेट जलाकर

आराम-कुर्सी पर पैर तानते हैं, उस समय मि० लामटोंगा किवाड़ भीतर से बंद करते और कोब्रा-पॉलिश की डिब्बी खोलते हैं।

एक दिन मि० लामटोंगा अपनी बाइसिकिल पोंछ रहे थे। बाइसिकिल-शब्द अँगरेजी के दो शब्दों से बना है—बाई और सिकिल। बाई यदि हिंदी का शब्द होता, तो मतलब कुछ और ही होता, पर अँगरेजी में बाई का भद्दा-सा अर्थ है दो, और सिकिल माने हैं हँसिया। संयुक्त शब्द का अर्थ होता है दो हँसिए। (मुल्ला) दो प्याज़े के-से नाम का आजकल आम रिवाज न होने से लोग उसे बाइसिकिल ही कहने लगे, नहीं जहाँ नॉर्थ को उत्तर, साउथ को दक्षिण, एलेक्जेंडर को अलचंद्र कहते हैं, वहाँ अवश्य ही बाइसिकिल को 'दो हँसिया' या हँसियाद्वय'-सा कुछ कहते। मि० लामटोंगा अपने दो हँसिए से ऊदल के 'दोनो हाथ करे तरवारि' की तरह धान काटते हैं या नहीं, यह तो नहीं मालूम, पर रास्ता काटते उन्हें हजारों आँखों ने चश्मा और बिना चश्मा के देखा है। उसे वह अक्सर साफ भी कर डालते हैं, उस तरह नहीं, जैसे मित्र के घर बैठ कर आप तश्तरी में रक्खे पान साफ करते हैं। उस दिन 'दो हँसियाँ' पोंछते समय ही एक सज्जन आ गए। मैं सज्जन ही कहूँगा, आप मोज़ों के एजेंट को चाहे जो कहें। बोले, "आदाब-अर्ज़, कहिए, क्या हो रहा है?"

मि० लामटोंगा उन आदमियों में से नहीं, जिन्हें किसी की

उपस्थिति का ज्ञान तुरंत हो जाता है। वह किसी के पैरों की ध्वनि, कपड़ों की सड़सड़ाहट, साँस के शब्द से चौंक उठने-वाले जीव नहीं। आपके खाँसने-खखारने की वह उतनी ही परवा करते हैं, जितनी आप बिल्ली के बोलने की। जूते की तड़ातड़ के विषय में तो नहीं कह सकते, पर उनकी खट्-खट् और किसी के बोल उठने का उन पर उसी प्रार्थना करने का। अपने काम में लगे रहते हैं, आपकी ग़रज़ हो, आइए, घंटों बैठिए, नहीं चले जाइए। आपसे कोई और चाहे पूछ ले, कैसे आए, कहाँ चले, इत्यादि, मि० लामटोंगा ऐसी ग़लती कभी नहीं करते। उनका है कि लोग मतलब से ही किसी के यहाँ जाते हैं। जल्दी मचाकर उन्हें घबरा देने से क्या फ़ायदा। उनको समय देना चाहिए।

उत्तर न मिलने पर सज्जन फिर बोले—"मैंने कहा, आदाब-अर्ज़।"

दूसरा कोई कह उठता—"वाह, ख़ूब कहा आपने! क्या कहने हैं! दुबारा कहिए।" पर मि० लामटोंगा 'दूसरे कोई' नहीं हैं, मि० लामटोंगा हैं।

सज्जन ने इस बार कुछ जोर से कहा—"क्या हो रहा है जनाब? मोजे देखिएगा? बढ़िया लुधियाना के सॉक्स।"

मि० लामटोंगा उठे। जिस कपड़े से बाइसिकिल पोंछ रहे

थे, उससे हाथों को साफ़ करते हुए बोले—"आपने आँखें कब से धोबी को नहीं दीं ?"

मि० एजंट हिंदी समझते थे, पर मि० लामटोंगा की हिंदी उनके दिमाग़ से टकराकर वापस आ गई। उसका वह कुछ भी अर्थ न लगा सके। केवल "जी" करके रह गए। उनका जी न प्रश्न-सूचक था, न स्वीकारसूचक, न निषेधवाचक। केवल 'जी' था।

मि० लामटोंगा बोले—"आपकी आँखों पर का मोज़ा मैला है, उसे निकाल फेंकिए, और आँखें धोबी को दीजिए। आपकी आँखें साफ़ नहीं आप कभी है, न पूछते कि मैं क्या कर रहा हूँ। सफ़ाई एक ऐसा गुण है, जिसकी भारतवर्ष को भोजन से भी अधिक आवश्यकता है। न-जाने नेताओं की अक़्ल कहाँ हवा खा रही है, जो देश की गंदगी दूर करने का उद्योग नहीं करते। । मेरा मतलब यह नहीं कि सब सफ़ाई के दारोगा हो जायँ, पर हाँ, यदि हो भी जायँ, तो देश का लाभ ही हो। स्वास्थ्य, संपत्ति और समुन्नति के लिये सफ़ाई हवा से भी ज्यादा ज़रूरी है, क्योंकि गंदी हवा में आप भी नाक बंद कर लेते हैं। अगर कभी आप नेता हो सकें, यो मेरी बात ध्यान में रखिएगा। केवल चेहरा साफ़ कर लेना ही सफ़ाई नहीं..."

एकाएक मि० लामटोंगा को चुप हो जाना पड़ा, क्योंकि एजेंट साहब अपना 'आँखों का मोज़ा', जिसे आप चश्मा कहना चाहेंगे, सँभालते वहाँ से खिसक गए थे, और बिना नोटिस

दिए ही मि० लामटोंगा को हवा से बातें करने के लिये छोड़ गए थे। किंतु अच्छा ही हुआ कि वह महाशय वहाँ न थे, जहाँ मि० लामटोंगा को साइकिल के पोछने में चेहरे पर का पसीना पोछते देख लेते। व्याख्यान की झोंक में वह समझ बैठे थे कि उनके हाथ में रूमाल है।

मि० लामटोंगा का कार्य-क्षेत्र इतना विस्तृत है कि आप उन्हें धोबी, राज, मोची या—या—न-जाने वह कौन शब्द है—नहीं कह सकते। वह एक होकर भी सब कुछ हैं। आपको शब्दों की खोज में इश्तहार न निकालना पड़े, इसलिये मि० लामटोंगा अपने को सफ़ाई के चौबीस अवतारों का एकीकरण मानते हैं।

( २ )

चेहरा साफ़ रखने का तो आजकल आम रिवाज है। आप मोटर-ड्राइवर हों, चाहे गवर्नर; चैन की वंशी बजाते हों, चाहे फ़ाक़े-मस्ती में मुब्तिला; जो बात आप नहीं भूलते, वह है सुबह उठते ही दाढ़ी से पूर्वजन्म का बदला निकालना, ज़रा आपको पढ़ा-लिखा-भर होना चाहिए। किंतु यदि आधुनिक फ़ैशन के किसी गुलाम की इस बात में मि० लामटोंगा से आप तुलना करें, तो आपको पहाड़-राई का अंतर देख पड़ेगा। सफ़ाई में यदि मि० लामटोंगा प्रमाण हैं, तो चेहरे की सफ़ाई में आदर्श। दिन में वह कितनी बार 'शेव' करते हैं, यह कहना तो कठिन है, हाँ, यह मालूम है कि फाँसी पर लटकते व्यक्ति

की तरह उनका उस्तरा दीवार पर लगे आईने के पास सदा झूलता ही रहता है। मौका मिलते ही वह चोल-झपट्टा मार बैठते हैं। आप मि० लामटोंगा के घर पधारिए, आपके लिये बढ़िया कुरसी तैयार है। फुर्सत मिलने पर मि० लामटोंगा सामने बैठ जायेंगे, और आपसे सच्चे मित्र की नाईं प्रेम-पूर्वक बातें करेंगे। आधे घंटे की बातचीत में पाँच बार स्वच्छता पर व्याख्यान दे जायँगे। सारे समय उनका हाथ गार्ड रूम के सन्त्री की तरह गाल और दाढ़ी पर चलता रहेगा, मज़े के लिये नहीं, खुफिया पुलिस की तरह खूंटी की तलाश में। एक भी बाल कहीं कर..राया कि बिना वाक्य पूरा किए मि० लामटोंगा कमरे के भीतर घुसकर गायब हो जायंगे। पाँच ही सात मिनट आपको राह देखनी पड़ेगी, जब लौटेंगे, तो चेहरा खून से लथपथ देख आप पहले डरकर भागना चाहेंगे, उठकर खड़े हो जायँगे। फिर बात समझ में आते ही आप ऐसा भाव प्रकट करेंगे, मानो मि० लामटोंगा के स्वागत के लिये खड़े हुए हैं। बैठते ही छुरे की दुष्टता के लिये आप बरबस दुखी हो उठेंगे। किन्तु विश्वास मानिए, जितना आप सोचते हैं, बेचारे छुरे का उतना कुसूर नहीं। उसने घबरा कर पहले मुक्ति की प्रार्थना की, कई बार हाथ छुड़ाकर भागना चाहा, जब इच्छा-पूर्ति न हो सकी, तब सत्याग्रह ठाना, उस पर भी प्राण न बचे, तो खिसिया कर दाँत चला दिया। मरता क्या न करता! आरत काह न करै

कुक्करम् !" तब से वह हो गया है खूनी, बिना रक्त चाटे उसकी तृप्ति नहीं होती। लेकिन चाहे सफाई के लिये हो, चाहे छुरे की आत्मा को सन्तुष्ट रखने के लिये, इस प्रकार खून बहाते-बहाते मि० लामटोंगा का चेहरा कई स्थानों से इस तरह ऊँचा-नीचा हो गया है, जैसे भूकम्प के बाद बिहार-प्रान्त की भूमि।

मि० लामटोंगा उपदेशक तो हैं, किंतु पर-उपदेश-कुशल नहीं। अपने सिद्धान्तों का मजबूती से पालन करते हैं। दिन में उतनी ही बार नहाते हैं, जितनी बार एक सच्चा मुसलमान नमाज पढ़ता है। शरीर का हरएक अंग—कान, आँख, नाखून आदि साफ रखते हैं। नाक तो दिन भर साफ किया करते हैं। उनकी हरएक चीज आपको साफ ही मिलेगी। अगर कुछ साफ न मिलेगा, तो उनका वह रूमाल, जो कोट की ऊपरी जेब से ऐंठ के साथ संसार देखने के लिये बाहर निकलना चाहता है, पर फिर मानो लज्जा से सिकुड़ कर अन्दर ही दबका रह जाता है। लोग कहते हैं, इस प्रकार अपनी इच्छा का खून करते उसे उसे बारह साल हो गए। एक युग की तपस्या के बाद भी उसमें यह शक्ति नहीं आ सकी कि कोट का मोह क्षण-भर के लिये भी छोड़ सके। घोर कलजुग है, और क्या। किसी जमाने में लोग एक बार ईश्वर का नाम लेकर ही, बिना पुल बाँधे, बिना नाव पर चढ़े संसार-सागर इस तरह लाँग जाते थे, जैसे मुर्गी का बच्चा कूड़े का

ढर लाँघ जाता है। अब बेचारे इस निर्दोष रूमाल के हाल पर ग़ौर फ़रमाइए। बारह साल दिल्ली में रहकर भाड़ ही झोंकता रहा।

रूमाल का रंग कैसा था, यह तो कहना कठिन है, पर उसकी जो झलक जेब से दिखाई पड़ती है, उससे इस समय उसके पीले होने में अणु-मात्र भी सदेह नहीं। एक-दो माह की क़ैद में ही लोग मुरझाकर पीले पड़ जाते हैं, फिर वह तो बेचारा रूमाल है। अगर बारह साल की क़ैद से उसके चेहरे पर शिकन आ गई, वह पीला पड़ गया, तो हमें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं देख पड़ती। आप भले ही ताज्जुब से दाँत-तले उँगली दबा लें। कैसे वह अभागा मि० लामटोंगा की मुट्ठी में आया या उनके चंगुल में फँसा, इसके विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ लोगों का कहना है कि मि० लामटोंगा एक बार सीलोन गए थे, वहाँ से लौटते समय उन्होंने जहाज़ के डेक पर एक पोटली पड़ी पाई। पोटली में कुछ भुने चने बँधे थे। मि० लामटोंगा उन्हें खा गए, और कपड़ा पसन्द आ जाने से जेब में रख लिया। दूसरे लोग कहते हैं, नहीं, जर्मनी से एक सज्जन ने अपने किसी मित्र को बड़े दिन का उपहार भेजा था। पोस्टमैन को एक चवन्नी नज़र करके मि० लामटोंगा बीच में ही उसके मालिक बन बैठे। तीसरे दल का कहना है कि एक बार किसी भोज के मौक़े पर मालिक की नजर बचा कर उन्होंने उसे अपनी जेब के हवाले कर दिया था

तब से डर के मारे उसे बाहर नहीं निकालते, नजरकैद रखते हैं। चौथा मत यह है कि वह रूमाल ही उनकी पैत्रिक संपत्ति है, इसलिये मि० लामटांगा उसे बड़े यत्न से रखते हैं। कहने का मतलब यह कि जितनी जीभें, उतनी बातें। बहुत प्रयत्न करके भी लोग किसी दृढ़ निश्चय पर नहीं पहुंच सके हैं।

एक दिन कुछ मित्रों का एक डेपुटेशन मेरे घर पहुंचा। बड़ी आनाकानी और अकाट्य बहाने करने पर भी भले आदमियों ने पिंड न छोड़ा। उनका कहना था कि मैं मि० लामटांगा के पास 'इंटरव्यू' की दरख्वास्त भेजूँ, और मंजूर होने पर जा कर उस रूमाल की कहानी दरयाफ्त करूँ। इस कार्य में सैकड़ों कठिनाइयाँ और हजारों बाधाएँ थीं, उनका संदूक खोल कर मैंने उन्हें उन के सामने बिखेरना चाहा, उन्हें बताना चाहा कि इस महत्कार्य के लिये जितने सत्साहस की आवश्यकता है, उसका शतांश भी मुझ में नहीं; फिर पूछने पर भी मि० लामटांगा रूमाल का ठीक-ठीक हाल बतला ही देंगे, इसका क्या निश्चय? अगर चोरी का माल है, तो झूठ भी बोलकर टाल सकते हैं। इसके अतिरिक्त उनके पास जाना खतरे से खाली नहीं। कहीं झोंक में आ कर मेरी आँख या मेरा मुँह या मुझे ही धोबी को दे बैठे, तो मित्र लोग फिर क्या करेंगे? मान लिया, ऐसा न भी हुआ, तो उनके व्याख्यान का गोला तो है। उसकी दनादन मार के

सामने मैं बेहोश तक हो सकता हूँ, फिर भला मित्रों का काम कैसे होगा? बात यों कि मेरी कमजोरी है व्याख्यान। मतलब, मैं व्याख्यान से उतना ही डरता हूँ, जितना आप चन्दा देने से। मेरी नजरों में व्याख्यानदाता शेर, चीते से भी भयानक है। इनसे भेंट होने पर बचाव का रास्ता है, क्योंकि बचपन में ही ढाँढू काछी के बगीचे के बड़े-से-बड़े पेड़ पर चढ़कर फल चुराने के लिये बदनाम हो चुका हूँ। व्याख्यान के गोले के लिये किस ढाल का प्रयोग करना चाहिए, यह बात अभी तक समझ में नहीं आई, इसीलिये घबराहट को दबोचने का मौका मिल जाता।

किन्तु जिनका निश्चय दृढ़ होता है, उनके सामने दलीलों की दाल नहीं गलती। मेरी सारी प्रार्थना, सारी युक्तियाँ बेकार गईं। 'इंटरव्यू' के बोझ से मेरे कन्धों का क्यों, मेरा भी कचूमर निकालना तय करके वे लोग गए।

( ३ )

जिन दिनों मैं बेकार था, मुझे ज्योतिषियों से मिलने का खास शौक था। सच तो यों है कि ज्योतिषी और बेकार में धरती-चूने का सम्बन्ध है। अगर आप ज्योतिषी हैं, तो बेकारों की तलाश में चक्कर काटते नजर आएँगे; बेकार हैं तो ज्योतिषियों के दर्शनेच्छु। आप जानते हैं कि आपकी बेकारी दूर करने में ज्योतिषी आप से अधिक असमर्थ हैं, फिर भी आशा के ऐसे समुद्र में आपको वह गोते खिलाता

है कि उससे अपने अशांत हृदय को क्षणिक शांति देने का लोभ आप संवरण नहीं कर सकते। अपने उस जीवन में मैंने बहुत-से ज्योतिषियों से परिचय प्राप्त किया था। उनमें से कुछ ने तो मुझे किसी राजा का दीवान बनाया था, कुछ ने मैजिस्ट्रेट, कुछ ने बड़ा भारी ताल्लुक़ेदार और कुछ ने एक धुरंधर वक़ील यद्यपि देश के दुर्भाग्य से मैं कुछ भी न हो सका, फिर भी मैं उन परोपकारी जीवों के आदेशों पर अटल विश्वास रखता हूँ। एक ज्योतिषी ने मुझे बताया था कि मेरे लिये कन्या का चंद्रमा शुभ है। अतः जब मैं कोई बड़ा काम करता हूँ, तब कन्या के चंद्रमा को ज़ोर लगाने के लिये अपने साथ कर लेता हूँ। एक से दो भले। इसीलिये मि० लामटोंगा को 'इंटरव्यू ग्रांट' कर देने पर भी तब तक मेरे दर्शन से वंचित रहना पड़ा, जब तक चंद्रमा कन्या-राशि में इतमीनान से बैठ न गया।

मि० लामटोंगा से घर के बरांडे में ही मुलाक़ात हुई, जैसे इंतज़ार में बैठे हों। तपाक से मिले। "मि० हरू ?" कहकर हाथ बढ़ाया।

मुझे मालूम था कि मुलाक़ात होने पर मि० लामटोंगा हाथ मिलाते हैं, अतः जहाँ चलते समय चक़दक़ कपड़े पहने थे, वहाँ कारबोनिक सोप से एक बार हाथ भी धो डाले थे। सच कहने में क्या शरम ! मैं कारबोनिक सोप की सस्ती, पाँच पैसे-वाली बट्टी इस्तेमाल करता हूँ। इससे सैकड़ों लाभ हैं—सफ़ाई

रखती है, शरीर की बदबू दूर करती है, पैसे बचाती है, इत्यादि-इत्यादि ।

मैंने भी मिलाने के लिये अपना दाहना हाथ फैलाया। मालूम हुआ, जैसे मि० लामटांगा उसे अपने हाथ में लेकर खूब प्रेम से झकझोरेंगे । पर एकाएक वह रुक गए। एक तीक्ष्ण दृष्टि मेरे हाथ पर पड़ी, आँखें फैलीं, नथने ऊपर उठकर गिरे, और दूसरे क्षण मि० लामटोंगा सामने से ग़ायब थे। मैं हाथ फैलाए इस आशा में खड़ा ही रह गया कि कोई उसे अपने हाथ में लेकर पहले नीचे, फिर ऊपर, फिर नीचे, फिर ऊपर करे। कैसी अच्छी प्रथा है यह! नमस्कार से लाख दरजे अच्छी । उसमें दो हाथों का खर्च होता है, इसमें एक से ही काम चल जाता है। उसमें इस प्रकार हाथ जोड़ते हैं, जैसे लट्ठ तानने का इरादा जाहिर कर रहे हों, इसमें प्रेम से दूसरे की शक्ति अपने में खींच लेते हैं। सहसा मेरी नींद टूटी। देखा, तो हाथ पर सफ़ेद-सफ़ेद कुछ रक्खा था, और कहीं से उस पर पानी गिर रहा था। सामने मि० लामटोंगा हथेली पर रक्खे साबुन पर पानी डाल रहे थे, साथ ही कह रहे थे—"स्याही का दाग़ इस तरह नहीं छूटता पत्थर पर हाथर गड़िए, पत्थर पर।"

मुझे तो काठ मार गया। इतना धोने पर भी स्याही का वह हलका-सा दाग कैसे लगा रह गया, समझ में न आया। उस दिन स्याही के प्रति मेरे जो भाव हुए, उन्हें मन की व्यथा के

समान मन में ही रखना अच्छा। साथ ही उन लोगों के प्रति ईर्ष्या का भाव उत्पन्न हुआ, जो 'डेवरचा' हैं, यानी बाएँ हाथ से कलम की कपाल-क्रिया करते हैं, और मिलाते समय दाहना हाथ पसार देते हैं। कुछ भी हो, अपनी गलती से मैंने वह अवसर प्रस्तुत कर लिया था, जिसके डर से हृदय घर से पैर बाहर धरते ही धक्-धक् करने लगा था। मैगजीन खुल चुकी थी, सामान तैयार था, बैठते ही दनादन गोले छूटने लगे। हाथ की सफाई से दिमाग़ की सफ़ाई होने लगी।

मि० तामटोंगा कहने लगे—"सफ़ाई-से ईश्वरीय गुण की क्यों आप लोग इतनी अवहेलना करते हैं, समझ में नहीं आता। आपने कभी यह भी सोचा है कि आपके हाथ गन्दे रहने से क्या परिणाम हो सकता है? हमेशा छोटी-सी बात को भी खूब ध्यान से इस प्रकार बड़े रूप में देखना चाहिए, जैसे वैज्ञानिक लोग सूक्ष्मवीक्षण-यन्त्र से प्लेग के कीड़े देखते हैं। आपके इन गन्दे हाथों के कारण आपको तथा आपके सम्पर्क में आनेवाले आपके मित्रों और कुटुम्बियों को हैज़ा यानी कॉलरा हो सकता है, जो उनसे उनके मित्रों, उन मित्रों से उनके मित्रों में होते-होते सारे संसार में फैलकर दुनियां के नाश का कारण हो सकता है। वैसे तो विद्वानों के कथनानुसार संसार एक दिन नष्ट होगा ही, पर आप क्यों दूसरे का काम अपने हाथ में लेकर दूसरे की रोजी में दखल देना चाहते हैं? यह बेकारी का ज़माना है, बेकार वे..."

और न जाने वह क्या-क्या कहते गए, मुझे याद नहीं। मैं तो बैठा अपने को संभालने में पड़ा था। मेरी हिम्मत अपनी मोटर स्टार्ट कर चुकी थी, होश ने पंख फैला लिए थे, दिल की धड़कन स्तीफा लिखने बैठ गई थी कि सहसा मि० लामटोंगा की दाढ़ी के एक बाल ने मुझे बाल-बाल बचा लिया। मैंने जितने लोगों से भेंट की है, सबको ही एकस्वर से दाढ़ी की निन्दा करते, उसके खिलाफ कुछ-न-कुछ कहते पाया है। लोग उसे व्यर्थ कष्टप्रद, जंजाल आदि नामों से पुकारते जरा भी नहीं शरमाते। किंतु ये लोग वे हैं, जिनकी मि० लामटोंगा से कभी मुलाक़ात नहीं हुई है। अगर एक बार ये उनके सामने से होकर निकल जायँ, तो सौ बार माफी मांगकर दाढ़ी को जंजाल की जगह जीवन-दायिनी न कहें, तो जो चोर की सजा सो मेरी।

मुँह के साथ मि० लामटोंगा का हाथ भी चल रहा था। लेक्चर झाड़ते जाते थे, और दाहने हाथ से इस तरह दाढ़ी सहलाते जाते थे, जैसे माता बच्चे का सिर सहलाती है। अचानक एक झटके के साथ हाथ रुक गया। साथ ही जीभ इस तरह रुक गई, जैसे मैटर न होने पर क़लम रुक जाती है। आधा वाक्य मुँह से बाहर आकर अपने शेषांश की राह देखता खड़ा रहा, पर उस बेचारे को सूर्य का प्रकाश देखना न बदा था। जीभ तक आये शब्द पेट में लौट गए या दिमाग़ में, यह बात सिवा दाढ़ी महारानी के और कौन जान सकता है ? मि० लामटोंगा की आंखें कुछ फैलीं, शरीर कांपा फिर

हिला और दूसरे ही क्षण वह इस तरह गायब हो गए थे, जैसे हवा में रक्खी मैथीलिटेड स्पिरिट।

अगर वायु-मंडल पूरी तरह प्रशांत हो, तो अपने को सँभालने के लिये पाँच मिनट बहुत हैं। अतः उस समय तक मैं काफी स्वस्थ-चित्त हो गया था, जब कहीं से आवाज आई—"माफ़ करना, मैं अभी आया। सिर घुमाकर देखा, तो दरवाजे पर खड़े चेहरे की सफ़ेदी के अंदर से मि० लामटोंगा कह रहे थे। मेरी निगाह पड़ते ही वह झाग वहाँ से ग़ायब हो गया।

पाँच मिनट और बीते। उस समय तक हिम्मत की वह भगोड़ी मोटर फ़ेल हो चुकी थी, अतः जाने का कोई इंतज़ाम न देख उसने अपना सामान उतार लिया था, और थके, हताश यात्री की तरह बिस्तर बिछाने का स्थान ढूँढ़ रही थी। होश के पँख चिपक गए थे, जो अब तानने पर भी न खुलते थे, और स्याही खत्म हो जाने के कारण धड़कन का इस्तीफ़ा अधलिखा ही रह गया था, जैसे बेकार जान अब वह रद्दी की टोकरी में डाल देने की सोच रही थी। जब मि० लामटोंगा सफ़ाई-घर से निकले, उस समय मुझमें इतनी हिम्मत थी कि मैं मुस्किरा रहा था।

मि० लामटोंगा का चेहरा इस समय साफ़ था। झाग का नामोनिशान न था। किंतु गाल से दो स्थानों से खून इस तरह धीरे-धीरे बह रहा था, जैसे अफ्रिका के घने जंगलों में

रबर के पेड़ से तरल रबर बहता है। घावों पर वह कुछ नमक-सा मल रहे थे।

मैंने कहा—"मि० लामटोंगा, आप ताजा खून बेचने का रोजगार क्यों नहीं कर लेते ? बहुत-से डॉक्टर खरीदार मिल जायँगे, आएदिन उन्हें ताजे खून की जरूरत पड़ा करती है।"

मि० लामटोंगा मुस्कराए। उनकी मुस्कराहट कुछ अजीबसी है। नहीं जानता, आप समझे या नहीं। मेरा मतलब यह कि क्या कभी बिल्ली को मुस्कराते देखा है आपने ? यदि हाँ, तो मि० लामटोंगा का मुस्कराना आप समझ सकेंगे, अन्यथा नहीं। बोले—"सलाह के लिये धन्यवाद। यही बात अमेरिका से एक पत्र-संपादक ने मुझे लिखी थी। जापान और रशिया से भी आशय के कई पत्र आ चुके, पर सच तो यह है मि० खरू या घरू, जो कुछ भी आपका नाम हो, मैं खून का व्यापार नहीं करना चाहता अपना देश अभी इतना उन्नतिशील नहीं हुआ है, लोग न-जाने क्या कहेंगे। यही देखिए, जब वे सफ़ाई-से साधारण विषय......"

मैंने जल्दी से कहा—"आप तो जापान में ही पैदा हुए थे ?"

मि० लामटोंगा इतने अकचकाए कि कुरसी से गिरते-गिरते बचे। उस आश्चर्य की लपेट में क्या कह रहे थे, सो भूल गए। विस्फारित नेत्रों द्वारा आस-पास आश्चर्य बिखेरते हुए बोले—"यह आपसे किसने कहा ? मैं चीन-जापान-तुर्किस्तान

से क्यों पैदा होने चला ? यहीं उत्पन्न हुआ था हिंदुस्तान में, इसी भारतवर्ष में। जानालि पता वहाँ जबलपुर मेरी जन्म-भूमि है। मेरे माता-पिता यहीं रहते थे। मालूम नहीं, आपके मन में मेरे जापान में पैदा होने का विचार कैसे आया ! कदाचित् मेरे नाम से आपको कुछ धोखा हुआ है। मेरे खानदान का नाम लामटोगा कैसे पाया, यह जान लीजिये। मेरे पूर्वज टोंक के रहनेवाले थे, जहाँ से वे लाम पर जाया करते थे। लाम का अर्थ आप न जानते होंगे। लाम माने लड़ाई। इन्हीं दो नामों की याद अमर रखने के लिये उन्होंने हमारा नाम होगया। क्या आपसे किसी ने कहा है कि मैं जापान में पैदा हुआ था ?"

"जी नहीं, कहा यहाँ किसी ने नहीं। कौन कहेगा भला ? आपके रूमाल रखने के ढंग से ही मैंने अंदाज लगाया।" मैंने कहा। चंद्रमा कन्या राशि में हो, तो क्या ? कब तक बेचारा जोर मारेगा ? जल्दी से-जल्दी अपना मतलब पूरा करके मुझे खिसकना चाहिये।

"कैसा रूमाल ? कैसा रूमाल ? मैं रूमाल कैसे रखता हूँ ? यह तो आधुनिक फैशन है, सभी लोग सभ्य पुरुष इस प्रकार कोट की जेब में रूमाल रखते हैं।" मि० लामटोगा ने कोट की ऊपरी जेब में हाथ डालकर मानो रूमाल निकालना चाहा, पर तुरन्त उन्हें याद आया कि कोट नहीं पहने। हाथ खींच

में रुककर एक अनुपस्थित तिनके को सीने पर से भगाने में लग गया ।

मैंने कहा—"आपका रूमाल कुछ विशेष प्रकार का है । देखूँ, तो बता सकता हूँ ।,,

मि० लामटॉंगा दो मिनट तक बैठे सोचते रहे, फिर उठकर अन्दर चले गए । शीघ्र ही वह लौटे । मुट्ठी में एक मैली-सी काली चीज लिए थे । बैठकर उन्होंने उसे खोला; रूमाल था । सचमुच वह विशेष प्रकार का रूमाल था । १८ इंच लंबा-चौड़ा, मालूम नहीं, किस कपड़े का बना, पर अब पीला पड़ गया । वह रूमाल मामूली होने पर भी विचित्र था ।उसके प्रत्येक इंच में एक कौआ कढ़ा था, जो अपनी चोंच में रोटी का एक टुकड़ा दबाए था, जैसे घर की मालकिन की आँखों में धूल डाल कर रसोईघर से वह रोटी लेकर उड़ा जा रहा हो ।

मेरे देख लेने पर मि० लामटॉंगा ने उसे होशियारी से झाड़ा, मानो मेरी दृष्टि से उस पर जो धूल बैठ गई थी, उसे दूर किया । सतर्कता से धीरे-धीरे उसे तह किया, और तब मुट्ठी में दबा लिया, मानो उन्हें डर था कि रोटी के टुकड़े की तरह कोई कौआ उस रूमाल को भी न ले भागे उस समय उनका चेहरा बड़ा शांत, पवित्र और उसी प्रकार के भावों से पूर्ण था, जो मन्दिर में जाते समय श्रद्धालु भक्तों के मन में उठ कर चेहरे पर फूट पड़ते हैं । मुट्ठी से झलकते एक

कोए पर उनकी आँखें जमी थीं, और वह धीरे-धीरे कुछ गुनगुना रहे थे। मैंने ध्यान देकर सुना, गा रहे थे—

A form more fair, a face more sweet
Ne'erh ath it been my lot to meet.

कोआ सुंदर होता है, या बदसूरत, इस विषय पर मेरी बहस करने की इच्छा न थी, न मेरा विचार उनके भावों की साँकल तोड़ने का था, फिर भी तोप के गोलों का डर जल्द खिसकने पर मजबूर किए था। इसलिये मैंने कहा—"माफ़ कीजिए, क्या मैं पूछ सकता हूँ कि यह रूमाल आपको कैसे मिला?"

छलछलाती आँखों से उस कुरूप कोए को घूरते हुए मि० लामटोंगा ने कहा—"यह ? आह ! आह ! यह ? यह मेरी रूमाल है। इसे मैं बारह साल से अपने हृदय के समान अपने हृदय पर ही रक्खे हूँ।" कहकर उन्होंने उस कोए को हृदय से लगा लिया।

जब बारह साल से उनके पास है, तब क़ानूनन वह उनकी सम्पत्ति है, उस पर उनका पूरा अधिकार है, हृदय पर रक्खें, चाहे कान में खोंसें। फिर मैं उसे लेने थोड़े आया हूँ, जो इस तरह बच्चों के समान मिनमिनाने लगे। मैंने कहा—"जी, डरिए नहीं। लूँगा नहीं। केवल पूछना चाहता हूँ कि यह आपको कहाँ मिला। बात यह है कि यद्यपि मैं किसी की चीज़ लेता नहीं फिरता, न मुझे आपके समान कोओं से

विशेष प्रेम ही है—इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि इसके लिये मैं आपको कुछ बुरा कहता हूँ, इससे तो और आपकी उदारता, विशाल-हृदयता प्रकट होती है। "आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।" फिर भी उत्सुकता का घोड़ा जब भड़क जाता है, तब कभी-कभी किसी वस्तु के विषय में......"

मि० लामटोंगा ने टोककर कहा—"आप हिंदी जानते हैं?"

यह विषय था मेरे मन का। मैंने ऐंठकर कहा—"खूब, खूब अच्छी तरह। हिंदी तो मेरी मातृ-भाषा है। आप शौक़ से अपनी कहानी हिंदी में कहिए। इतमीनान रखिए, हिंदी का मैं विद्वान हूँ।"

"कहाँ तक पढ़े हैं आप?"

यह प्रश्न ज़रा कड़ा था। जल्दी में कोई उत्तर न बन पड़ा। मैंने कहा—"जी, यहीं तो पढ़ा हूँ मैं, क्या—नाम—है—देखिए—उस—स्कूल में। हाँ, क्या कह रहा था? जी, तो आप कृपया यह बतलाने का कष्ट कर रहे थे कि यह सुंदर रूमाल कैसे आपके हाथ लगा। आप यह भी......"

"आपकी शिक्षा अधूरी है। आप हिंदी नहीं जानते, नहीं तो मेरी-रूमाल का मतलब समझ जाते।" मेरे चेहरे पर आँख गड़ाकर मुझे बरबस घबराहट की ओर ढकेलते हुए मि० लामटोंगा ने कहा—"मेरी रूमाल में तत्पुरुष-समास

है—मेरी का रूमाल। बारह साल हुए, जब मेरी ने मुझे दिया था, या यों कहिए, मेरी ने मेरे पास भिजवाया था।"

मुझ से कुछ कहते न बना, सो बात नहीं, मैं चुप रह ही गया। कुछ देर ठहरकर वह फिर बोले—"आप सोचते होंगे, यह मेरी कौन थी! मैं बतला देता हूँ। वह थी स्वर्ग की देवी, चंद्रमा की उज्ज्वल ज्योति, प्रातःकाल की कोमलता, ओस की सुंदरता। उसने कभी मुझे प्यार किया था। हम दोनों एक न हो सके, तो क्या हुआ। उस देवी ने मुझे प्यार किया था, यह विचार ही मुझे संतुष्ट करने के लिये काफ़ी है।"

कुछ देर शांति रही। लामटोंगा अपने पूर्व-जीवन के मनश्चित्र में लीन थे, मैं अपने वर्तमान में मग्न था। एक दिल कह रहा था, अरे चलो, जाने दो, ये सब उड़ने की बातें हैं। चोरी छिपाने के लिये तुम्हें सीधा समझकर यों बहकाया जा रहा है। इनकी बातें मानने के पहले एक बार सोच, लेना सोच।

तुरंत दूसरा विचार धावा कर बैठता—छिः! क्यों एक शरीफ़ आदमी पर नाहक़ शक कर रहे हो। सचाई देखो, उसके चहरे से टपकती है। अगर ऐसा न होता, तो यह रूमाल मेरी-रूमाल न हो कर मेरा रूमाल भी तो हो सकता था। फिर कौओं को इतना प्यार करने का तो अन्य कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता। मैं कौओं को प्यार क्यों नहीं करता? आप कौआ......।

सहसा मि० लामटोंगा ने कहा—"आप सिगरेट् पीते हैं ?"

राम-राम ऐसे सज्जन को मैं झूठा और चोर समझ रहा था। मन में बड़ी ग्लानि हुई, मैंने कहा—"ना-ना-ना, कष्ट न करिए। हाँ, अगर अतिथि-सत्कार का कर्तव्य बाध्य ही करता हो, तो थोड़ी सुरती और चूना आने दीजिए, मैं लिखा लूँगा।" पहले मुफ्त की सिगरेट् ले लेने की इच्छा हुई थी, पर ब्राह्मणत्व ने पैर अड़ा दिया।

मि० लामटोंगा तनकर कुरसी पर बैठ गए। मेरी धोती की ओर इशारा करके बोले—"फिर वह काला दाग़ वहाँ कैसे आया ? आप लोग कपड़े चाहे साफ़ पहन लें, पर सफ़ाई पर ध्यान नहीं देते। पहले सफ़ाई का मतलब समझिए। सफ़ाई वह न्यामत......।"

इस बार दाढ़ी द्वारा रक्षा होने की संभावना न थी। अतः तमाखू घर में ही फाँकने का निश्चय कर मैंने अपनी छड़ी सँभाली, और बिना 'जैरामजी की' किए वहा से भाग खड़ा हुआ।

# लापरवाही का इलाज

( १ )

यदि जीवन की जटिलता आपने जबलपुर के दर्शन से जीर्ण नहीं की, तो जिन्दगी में कुछ न किया। गंजेड़ी-पुराण में एक स्थान पर लिखा है—"जिसने न पी गाँजे की कली, उस लड़के से लड़की भली", किंतु जबलपुर के बारे में एक कवि की उक्ति इससे कहीं महत्त्व-पूर्ण है। वह कहता है—

जबलपुर-सो पुर नहीं, जबलपुर-सो नावे ;
दर्शन सों मुकुती मिलै, परसन सों सुरझावे।

अर्थात्, कवि के अनुसार जबलपुरी के दर्शन-मात्र से स्वर्ग-प्राप्ति की गैरंटी। चाहे इसका मतलब आप यह लगाएँ कि दर्शक हिंदू-मुस्लिम-दंगे में काम आ जायगा, चाहे यह कहें कि खड़बड़-भड़भड़ करके सिर हिलाते चलने वाले ताँगों के नीचे बिना प्रतिवाद किए आत्म-समर्पण कर देगा, चाहे यह सोचें कि चीं-पों करके शहर की सड़कों पर सर्राटा भरने वाली 'तूफान मेल' के बेमेल आलिंगन से मसल जायगा। अथवा, चाहे आप यह तय करें कि टेढ़े-मेढ़े मकानों के एकाएक फट पड़ने से दर्शक का जी जीने से फट जायगा, परिणामतः उसकी जीवन-नौका भी फटकर डूब जायगी। खयाल करें आप

कुछ भी, इतना अवश्य है कि स्वर्ग सब प्रकार निश्चित है। अकबर ने खुदा की राह में रेल चलाई थी, पर बीसवीं सदी के इस द्वितीय चतुर्थांश में इन मालूम नहीं, कौन वादी कवि-पुंगव महाराज ने जबलपूर चला दिया है।

कुछ भी हो, कवि का स्वर्ग आपको जँचे या न जँचे, उससे आप तृप्त हों या न हों, यह तो मानना ही पड़ेगा कि जबलपूर एक शहर है। यह भौगोलिक सत्य नमक का पानी पीकर सैकड़ों वर्षों तक अनशन करने पर भी मेटा नहीं जा सकता। जिन्होंने जबलपूर देखा है, वे चाहे स्वर्ग के ज्ञान से भले ही बाल-बाल बच गए हों, पर इस ज्ञान से वे अपना पिंड नहीं छुड़ा सकते कि जबलपूर छोटा-सा गाँव नहीं, एक शहर है, जहां यदि बहुत-सी चट्टानें हैं, तो उनसे भी कहीं अधिक घर हैं। हमारा मतलब यह नहीं कि सब घर सिलसिले से बने हैं, या दर्शनीय हैं। घर हैं बस। इतने से ही आपको जो कुछ समझना हो, समझ लीजिए। (कुछ न समझना हो, कुछ न समझिए।) इतने घरों से घिरे घेरे में जहाँ घंटाघर-से स्थान हैं, वहाँ बहुत-से स्कूल भी हैं। स्कूलों की ठीक संख्या तो फिर कभी, अगली मर्दुमशुमारी के बाद, लिखना अच्छा होगा, इस समय केवल इतना ही जान लीजिए कि वहाँ एक स्कूल है, जिसमें मि० रुकैया पढ़ाते हैं।

मि० रुकैया के शिक्षण-क्रम के बारे में बहुत-सी बातें खोटे रुपए के समान इस समय घर-घर चल रही हैं, जैसे पढ़ाते

समय नाक फुस-फुस करते जाते हैं; जब कोई भूल जाते हैं, तब ज़ोर से किताब टेबिल पर पटककर चिल्ला पड़ते हैं 'हाँ', मानो भूली बात को बुला रहे हैं; होम-वर्क रोज़ देते हैं, पर जाँचते कभी नहीं, स्वयं पान खाकर क्लास में आते हैं, तो लड़कों को मुँह धोने के लिये बाहर भेजते हैं; पेट पर हाथ बहुत फेरते हैं; पैंट ऊँचा पहनते हैं; कॉलर मोड़ना इत्यादि। पर हम स्कूल-इंस्पेक्टर नहीं। हमें इन बातों से कोई मतलब नहीं। हमें केवल उन्हीं बातों से सरोकार है, जो प्रस्तुत विषय से संबंध रखती हैं। मि० रुकैया से पढ़ाते बनता है या रोते, इसमें हमें क्या ?

जुकाम की बहन खाँसी की तरह मि० रुकैया के भी एक बहन है। आठवीं वर्ष-गाँठ के अवसर पर उसके मामा ने एक पुराना कोट कटाकर उसके लिए एक फ्राक बनवा दिया था। किंतु आज कल बाज़ार में बिकने वाले फ्राकों के समान वह न था। उन दिनों दर्ज़ी चोर कहलाकर देहाती दर्ज़ी चोर कहलाने से डरते थे। अतः फ्राक बनते - बनते, बिना किसी को सूचना दिए, चोगा बन जाया करता था। चोगे के ढंग का ही वर्ष - गाँठ में मिला वह फ्राक था, जो मि० रुकैया की बहन के मोरवों तक झूल कर दर्ज़ी की ईमानदारी और अप्र-शोचिता का डंका पीटता था। जब वह उसे पहनती थी, तब रोमन - कथालिक पादरी का सूत्र - रूप - सी मालूम होती थी। इसलिये लड़कों ने उसे 'फ़ादर' कहना शुरू कर दिया।

बाद में तो अँगरेजी नाम होने से यह नाम इतना पसंद किया गया कि लोग मि० रुकैया की बहिन का असल नाम ही भूल गए। वह जो कुछ भी रही हो, उससे शुद्ध 'फ़ादर' हो गई।

समय पर 'फ़ादर' की शादी एक छोटे साहब से हुई, जो छ फ़ीट से बड़े न थे। विधाता की इच्छा के आगे किसी का क्या जोर ? साल-भर बाद ही बेचारी फ़ादर को 'मदर' होना पड़ा। : बलपुर की जनता ने अखबार पढ़ कर यह समाचार नहीं पाया। कैसे घर - घर इसकी व्याप्ति हो गई, यह सुनने लायक है।

( २ )

एक दिन पोस्टमैन के जाने के पाँच मिनट बाद ही डोला का चेहरा दरवाजे के बाहर आया। डोला से आप डोली का पुंलिंग डोला न समझ बैठिएगा। डोला स्त्रीलिंग थी। बात यह कि फ़ादर की मा का नाम डोला था। जब डोला ने सिर बाहर निकाला, उस समय उसके चेहरे पर प्रसन्नता का पहाड़ फटा पड़ रहा था, उदारता इस प्रकार चू रही थी, जैसे मधु-मक्खी के छत्ते से शहद, और विशालहृदयता के मारे तो दरवाजे में अँटना मुश्किल था। सामने टिड्डा भंगी झाड़ू लिए खड़ा था। देखते ही डोला ने पुकार कर कहा—"अरे क्यों रे! ओ, क्या नाम है तेरा, रोटी लेगा ?"

टिड्डा इतना चकराया कि उसके हाथ से झाड़ू गिर गया,

जैसे चंदेवालों को देखकर सेठजी का मन गिर जाता है। अविश्वास-भरे स्वर में बोला—"हाँ, मालकिन, क्यों न लूगा।"

डोला बोली—"मुझे ऐसा याद आता है कि तुझे कई दिन से रोटी नहीं दी।"

टिड्डा भंगी था, पर उसकी आत्मा भंगी न थी। स्पष्ट कहता था, किसी को रोटी न देता हो, रहने दे; बुरा लगे, तो एक रोटी ज्यादा खा ले। भगवान् सबका मालिक है। किसी की चापलूसी करने के लिये वह झूट बोलकर अपना स्वर्ग नहीं बिगाड़ सकता। कभी झूट बोला होगा, तब तो इस जन्म भंगी हो गया। अब बोलेगा, तो मालूम नहीं, क्या होगा। कहने लगा—"वैसे जैसा मालकिन कहें, पर मुझे तो याद नहीं कि कभी तिथ-त्योंहार या ग्रहण में भी रोटी मैंने पाई है।"

आज डोला क्रोध की सरहद से बहुत दूर थी, बोली—"अच्छा," अच्छा, सब दिन की कसरत् आज ही निकाल ले। जा तू सब रोटिया ले जा।"

दो मिनट के भीतर ही चार बासी रोटियों के बोझ से अपने डगमगाते पैरों को संभालता टिड्डा चिड्डे की तरह चला गया।

कुछ देर बाद एक मगन घर के सामने से निकला। पहले द्वार पर रुककर शायद सवाल करनेवाला था, पर डोला को सामने देखकर उसने विचार बदल दिया। झपटकर आगे बढ़ने लगा। डोला ने उसे पुकारा, बोली—"अरे ओ, तुम तो। तूने एक दिन कोई कपड़ा मुझसे माँगा था न?"

साड़ी देखकर मारे प्रशंसा के भिक्षुक काँप उठा । डरते-डरते बोला—"तकलीफ न करो बाई, मैंने कपड़ा पाया तृप्त हो गया, ईश्वर आपका भला करे । इसे आप रक्खे रहिए, किसी काम आ जायगी । मैं मर्द आदमी इसका क्या करूँगा ?"

आज दिया दान डोला वापस नहीं ले सकती थी, बोली—"जा, ले जा पहन डालना । जब औरतें आजकल कोट-पैंट पहनती हैं, तब मर्दों को साड़ी पहनने में क्या संकोच ? जा, पहलेपहल रात को पहनना, फिर बाद में हिम्मत बढ़ जायगी, तो आदत पड़ जायगी ।"

मालूम नहीं, डोला की दलील ने या इसके डर ने मंगन को फिर बोलने न दिया । साड़ी के छेदों में उँगली डालता वह वहाँ से चल खड़ा हुआ ।

इस समय तक मुहल्ले-भर में शोर मच गया था कि आज मालूम नहीं क्यों, डोला राजा कर्ण का नाम मिटा देने पर तुली हुई है । सुबह से द्वार पर बैठी दान कर रही है, किसी को कपड़े दे रही है, तो किसी को भोजन । जहाँ देखिए, वहाँ इसी की चर्चा छिड़ गई । स्त्रियाँ पनघट पर—ज़रा ठहरिए, पनघट से यहाँ कुआँ न समझ जाइएगा, पनघट यहाँ नए प्रकाश के कारण अपने नए अर्थ पंपा, बंबा, पाइप या जो आप कहें, के लिये आया है—पानी भरना भूल इसी गुत्थी को सुलझाने में लग गईं । पुरुष पान की दूकान पर खड़े मारे आश्चर्य

के भूल गए कि किसलिये कहाँ खड़े हैं। पंसारी को पसारी समझ पैसे-दो-पैसे का नमक और जीरा माँगने लगे।

और, जब कुछ देर बाद एक पंडितजी डोला के घर में गए, वहाँ से लौटकर पन्सारी के यहाँ एक घिसा अधन्ना चलाने आए, और न चलने पर मुँह बनाते-ए-बिगाड़ते चले गए, तब तो एक वृद्धा पड़ोसिन से न रहा गया। चट आग लेने के बहाने डोला के घर डोल डालने जा पहुँची। बातों-बातों में डोला को प्रसन्नता का कारण पूछ बैठी। कादर के बच्चा हुआ है, सुनकर बुढ़िया ने खाली डिबिया की तरह अपना पोपला मुँह खोल दिया, बोली—"ईसुर किरपालू है बहन, सब का भला करता है। मेरी बच्ची के जब बच्चा हुआ था, तब मैंने दान दच्छिना कुछ नहीं दी, सिरफ मंगू की माँ को बतला दिया था। घण्टे-भर में सारे सहर सोहरत हो गई।"

डोला को भी सलाह जँच गई ऐसा है, तो घर लुटाना बेकार है। भला हो मंगू की माँ का। बेचारी पर-सेवा में कैसी तन-मन से लगी रहती है। देखना तो रे कोई, वह घर में है क्या ?

मंगू की माँ हिलती हुई आई, और आँगन में बैठ गई। सुपारी की बात उठी। आद्धा सुपारी से पूरी सुपारी का स्वाद अच्छा होता है। बम्बई की काली सुपारी को तो मंगू की माँ फूटी आँख भी न देख सकती थी, कोई देता, तो फेंक देती थी। मंगू की माँ को पूरी सुपारी पूरी खिलाई गई।

पानी की आग उठी। मंगू की मा तालाब का पानी पी ही न सकती थी। मालूम नहीं, देहाती लोग कैसे पीते हैं। मंगू की मा के गले के नीचे तो वह उतरता ही नहीं। कुएँ का पानी वह मजे से पीती है, या इसके अभाव में पाइप का पानी ही कुछ मिठाई या गुड़ खाकर ऊपर से पी लेती है। खाली पेट पाइप का पानी लगता है, अपना-अपना स्वभाव तो है। मंगू की मा को थोड़ा गुड़ और पाइप का पानी दिया गया, जिस पर पुनः पूरी सुपारी की गई, सो ही तह बैठाई गई। आगे में मटर की फलियाँ रक्खी थीं, अब उनकी बातें होने लगीं। मंगू की मा को मटर बहुत पसन्द है। अगर तरकारियों में कोई तरकारी उत्तम है, तो मटर-आलू, बाकी तो सब घास है। वैसे खाने को खा लेती है दूसरे साग भी, पर कहाँ मटर, कहाँ दूसरे साग! कहाँ राजा भोज, कहाँ भोजवा तेली।" ढोला का आसन डोला, बोली—"सुना है, हिंदुस्थान को स्वराज मिलने वाला है। सच है क्या मंगू की मा?

मटर पर आँख गड़ाए हुए मंगू की मा ने कहा—"कहाँ बहन, अभी नेता लोग केवल शोर ही कर रहे हैं; होता जाता तो कुछ भी नहीं। महात्मा गांधी का कहना लोग मानते नहीं, नहीं चर्खा हाथ में लेकर खड़े हो जायँ, तो स्वराज मिलने में बहुत देर न लगे। यही चर्खा तो सुदर्शन चक्र है, जिसे हाथ में लेते ही हर एक आदमी लक्ष्मी-पति हो जायगा। और हाँ, मैं तो कहने को भूली जा रही थी,

तुमने अच्छी याद दिला दी। अभी हाल ही में महात्मा गांधी का मटर पर एक लेख छपा था, जिसमें उन्होंने उसकी बहुत तारीफ की थी। मैं तो सुनकर बहुत खुश हुई। जो मनुष्य मटर को अच्छा कहता है, वह मुझे भगवान-सा प्यारा लगता है। मटर..."

मटर पर आँख गड़ी थी, तो मटर को घबराना चाहिए था, पर घबरा रही थी डोला। कहने लगी—"और सुना है मंगू की मा, पंचम जार्ज जल्द ही जबलपुर आने-वाले हैं।"

मंगू की मा ने इस तरह आँखें फैला दीं, जैसे बेहोश हो जायगी, पर पर-सेवा-रत उन मटर की फलियों ने तुरंत उसे थाँभ लिया। आँखें फाड़कर मटर को घूरती हुई बोली—"वाह बहन, पंचम जार्ज को मरे इतने दिन हो गए, तुम्हें पता ही नहीं! यही तो कहती हूं कि तुम लोग घर में मुर्गी की तरह बंद रहती हो, दुनिया में क्या हो रहा है, तुम्हें इसकी महक तक नहीं मिलती। जरा बाहर निकलो, चलो-फिरो, घूमो-देखो, तो संसार का रंग-ढंग मालूम होता रहता है। चार पैसे के मटर क्या खरीद लिए, दुनिया जीत ली। इतने ही सब कुछ हो गया। लेकिन हाँ, तुमने मटर खरीदे क्यों होंगे, किसी लड़के के यहाँ से आ गए होंगे। तभी तो कहती हूं कि मास्टर होना सबसे अच्छा। न रुकैया भैया मास्टर होते, न तुम्हें मटर खाने को मिलते। मैं साफ

कहती हूँ बहन, बुरा लगे, तो मुँह पर कह लेना। मैं भी अपने मंगू को मास्टर..."

डोला का धीरज टिकिट कटा चुका था। उसने कहा· "मंगू की माँ, सुना? फ़ादर के बच्चा हुआ है।"

"अरे कब? वाह-वाह! तब तो जरूर आज मटर की तरकारी खऊँगी" कहकर उसने झोली की झोली खोली, और उसमें मटर भर कर सर्र से निकल गई।

लेकिन वे फलियाँ निष्फल न गईं, फल गईं। शाम होते-होते सारा शहर जान गया कि 'फ़ादर' के लड़का हुआ है। जिनको जानने की इच्छा न थी, उनके कान में जबरदस्ती ख़बर भीतर भेजी गई, जो अपरिचित थे, उनको जबरन अपने आधे घण्टे का ख़ून करना पड़ा।

( ३ )

अगर आप पंडित से अच्छी बात सुनना चाहते हैं, तो यह आवश्यक है कि आप उसे अच्छा पैसा दें। अच्छा पैसा का यह अर्थ नहीं, जो 'सेठ' सकट्टदास के पास अच्छा पैसा है' में है। अच्छा से यहाँ खरा मतलब समझिए, चोखा। यदि आप खोटा पैसा या घिसा अधन्ना दे देते हैं, तो पंडित जो कुछ कहता है, उसका वह जिम्मेदार नहीं, आप जिम्मेदार हैं। आपने घिसा अधन्ना देकर उसका दिल तोड़ दिया, उसकी आशा-लता पर पानी फेर दिया, आशा की कली मसल दी, उम्मीदों का किला धूल में मिला दिया, आशा

के स्वर्णाभ प्रभात पर प्रलय-सांध्य की छाया डाल दी, और न जाने क्या-क्या कर डाला, पर वह बेचारा भला आदमी इसके लिये आप पर नालिश नहीं करता। केवल एक वाक्य कहकर अपना रास्ता लेता है। माना कि वह वाक्य 'लड़का लापरवाह निकलेगा' है, तो इसके लिये आपको दुख क्यों होना चाहिए? रात की आपकी नींद क्यों गायब हो जानी चाहिए? भूख क्यों भाग जानी चाहिए? और स्वभाव क्यों पलट जाना चाहिए? जैसा पैसा दिया है, वैसी बात सुनिए। जितना गुड़ डालेंगे, उतना ही तो मीठा होगा? ऐसा था, तो घिसा अधन्ना देने के पहले ही डोला ने क्यों न सोचा?

लेकिन अब तो तीर हाथ से निकल चुका था। खरा अधन्ना क्या, चोखी इकन्नी लेकर भी पंडित ब्रह्मवाक्य नहीं बदल सकता था। फादर के बच्चे को तो अब लापरवाह होना ही पड़ेगा, उससे बचत नहीं, फिर भी डोला चाहें, तो कोशिश करके लापरवाही की मात्रा कम कर सकती है। जैसे मान लीजिए; कहीं पंडित ने कह दिया कि सूखा पड़ेगा, और सूखा पड़ गया, तो किसान खेत सींचकर सूखा की मात्रा सुखा सकते हैं। अब डोला के जीवन का एकमात्र उद्देश था किसी तरह नाती की लापरवाही कम करना।

वह इसी उधेड़-बुन में रहने लगी। जब तक वह अधन्ना उसके पास रहा, तब तक उसे यह चिन्ता रही कि उसे चलावे कैसे। अब, जब वह चला गया, तो चिंता की गठरी अचानक

इतनी भारी हो गई कि उसके नीचे दबकर डोला दिन-दिन सूखने लगी।

डोला ने अधन्ना नहीं दिया था, पंडित को अपनी भूख दे दी थी, नींद दे दी थी, और दे दी थी बेफिकरी। वैसे चालू मशीन की तरह सब काम होता ही था, चौके में जाती थी, कौर मुँह में डालती थी कान में नहीं। पर सोचिए तो, मन का खाना और है, बेमन खाना और। यदि आपकी भोजन करने की इच्छा नहीं है, नहीं खाना चाहते, और कोई पकड़ कर आपको जबरन चौके में घसीट ले जाता है तो, उसका मान रखने या अपना पिंड छुड़ाने को आप चले जाते हैं जरूर, लेकिन कितना भोजन करते हैं? दो कौर, आधी रोटी बस। सेर-भर न खायेंगे आप, बशर्ते कि आप पर मथुरा की छाया न पड़ी हो। डोला भी उस अधन्ने पर अधन्ने वाले पंडित पर, अधन्ने वाले पंडित की लापरवाही पर अपना भोजन न्यौछावर करने लगी। कभी-कभी तो केवल खटाई खा कर पानी पी लेती, और थाली को प्रणाम कर चौके से निकल आती।

एक दिन डोला बरंडे में बैठी भोजन कर रही थी। हाथ तो थाली पर था, पर मन कहीं और। कौर तोड़ कर कभी दाल में बोरती, कभी पानी में; कभी भात को साग समझ कौर में उसे लपेट कर खा लेता। लापरवाही, लापरवाही, लापरवाही, कैसे बच्चे की लापरवाही दूर की जाय, अभी वह इतना छोटा

है कि उसे शिक्षा भी नहीं दी जा सकती; जब तक शिक्षा योग्य बड़ा होगा, तब तक यह दुर्गुण उसमें इस तरह जड़ जमा लेगा कि फिर निकाले न निकलेगा। डोला काँप उठी। वह कपड़े जहाँ कहीं भी फेंक देगा; बदन में, सिर में धूल लग जायगी, तो लगी रहने देगा; ज़रा उसकी परवा न करेगा। बीमार होगा, तो दवा न खायगा। बैठेगा, तो बैठा ही रहेगा। खड़ा होगा, खड़ा ही रहेगा। हाय, हाय, लापरवाही! लापरवाही! रोटी के धोखे जिस पत्ते पर चटनी रक्खी थी, डोला उसे खा गई।

एक कौआ सामने बैठा डोला की लापरवाही को बड़े ध्यान से देख रहा था। कभी बाईं आँख से देखता, कभी सिर घुमा कर दाहिनी आँख से देखने लगता, फिर उचक कर मानो निरीक्षण में सुविधा के लिये कुछ पास आ जाता। तब हटकर एक बगल से देखने लगता। डोला को मुँह में पत्ता रखते देख कौए ने मुँह बा दिया, मानो डोला की ग़लती पर उसे हँसी आ गई।

डोला ने कौर तोड़ा, पर भूल गई कि उसे क्या करे। उँगलियों में पकड़े इस तरह बैठ गई, जैसे किसी को देने की चिंता में हो। कौए ने शायद समझा कि मुझे देने के लिये यह भली स्त्री रोटी तोड़े बैठी है। खुशी से फूल उठा। सिर घुमाकर निश्चय किया कि रोटी ही है पत्ता तो नहीं, तब चोंच खोल लगा छलाँगें भरने। तीन-चार उचकान में

वह डोला के निकट पहुँच गया, और कच से उसने चोंच में रोटी पकड़ ली। किंतु कौए का स्वभाव है कि वह किसी का विश्वास नहीं करता। आप बड़े प्रेम से उसे रोटी दीजिए, वह सधन्यवाद उसे ले लेगा, किंतु आपके पास बैठ कर इतमीनान से उसे खाए और आपसे प्रेम-पूर्वक वार्तालाप करे, ऐसा होना संभव नहीं। वह रोटी झटककर खट से किसी सुरक्षित स्थान की खोज में उड़ जायगा। कहीं आप उसके मुँह की रोटी छीन लें, तो ? जब डोला के हाथ से रोटी छीनकर कौआ उड़ा, तब डोला की आँख खुली। आँख तो पहले से ही खुली थी, मतलब यह कि ध्यान भंग हुआ। चिल्लाने लगी—"देखो, देखो, इस कौए की हिम्मत। हाथ से रोटी छीन लिए जा रहा है। बदमाश ताक में बैठा रहा मैंने ज़रा मुँह फेरा कि रोटी ले भागा। अब तो मालूम पड़ता है कि इनके मारे खाने को भी न मिलेगा।"

मि० रुकैया स्कूल जाने को तैयार थे। मा की आवाज़ सुनकर झपटते आए, नाक फुन्न करके बोले—"क्या है मा ?"

डोला ने कहा—"बेटा, मेरे हाथ से कौआ रोटी ले गया। वह देखो मुँडेर पर बैठा है। मैं ऊँघी नहीं, लेटी नहीं, आँखें खोले बैठी हूँ, दुष्ट झपट्टा मारकर भाग खड़ा हुआ।"

यह जाति (फुन्न) बहुत चालाक होती है मा (फुन्न) मि० रुकैया बोले। उसी समय वह कोई बात भूल गए। "हो" चिल्ला कर भीतर चले गए।

कौए देखा, मुँड़ेर पर भी गुज़र नहीं। वहाँ भी लोग मुँह चिढ़ाकर ईर्ष्या से 'फुन्न' और 'हो' कह सकते हैं। अतः वह वहाँ से किसी सुरक्षित स्थान की खोज में चल दिया।

पर डोला के चेहरे पर इस समय मुस्किराहट थी। चालाक। चालाक ही तो होती है यह जाति। लापरवाह बिलकुल नहीं होती। कितनी होशियार। कितनी चतुर। अगर क़ादर के बच्चे को कौआ बनाया जा सके, तो कितना उत्तम हो! किंतु विधाता ने बनाया है आदमी, विधाता की ग़लती पर पानी नहीं फेरा जा सकता। डोला ने पानी पिया। फिर भी मनुष्य प्रयत्न करके आदमी को कौए के समान चालाक बना सकता है। पर कैसे? कैसे? अगर कौओं के बीच में पालकर बच्चे को बड़ा किया जाय, तो? नहीं, संभव नहीं। असली कौए तो नहीं, पर हाँ······। डोला हँसने लगी। रोटी का एक टुकड़ा तोड़कर आँगन में फेंकती हुई बोली—"ले कौए, ले, तू चालाक हो। और ले, और ले, और ले।" इस प्रकार रोटी के चार टुकड़ों के बहाने अपनी चिंता कौओं के लिये फेंककर डोला हँसती हुई पान बनाने चली गई।

( ४ )

चौक के दिन क़ादर को अपनी मा की ओर से जो सौग़ात मिली, उसमें मि० रुकैया की एकत्रित 'फुन्न' के साथ निम्न-लिखित वस्तुएँ थीं—

नंबर एक छोटा पलँग, जिसके काठ पर कौए बने

थे। चारों पैरों पर चार कौए उड़ते हुए बैठाए गए थे। (याद रहे, ये कौए लकड़ी के थे।)

नंबर दो—एक गद्दा, जिस पर कौओं की पल्टन लेफ्ट राइट कर रही थी।

नंबर तीन—एक शाल, जिस पर कौओं का जातीय पंचायत बैठा शायद यह तय कर रहा था कि आज से जो कौआ मरा मांस खाय, वह जाति-च्युत कर दिया जाय। ईश्वर की असीम अनुकंपा से हिंदू-मुस्लिम-दंगों के कारण उनका जीवन सारे भारतवर्ष में निखर रहा है कि किसी को भी मरा मांस नष्ट करने से आपत्ति नहीं हो सकती।

नंबर चार—एक कुरता, जिस पर कौओं का एक दल बैठा दलदल से ढालनुमा कोड़ा पकड़ रहा था।

नंबर पाँच—फादर के लिये एक चादर, जिसकी किनार पर कौए गुत्थमगुत्था हो रहे थे।

नंबर छः—सलमे-सितारे की एक साड़ी, जिस पर कौओं की चोंचें चमककर बिजलियाँ गिरा रही थीं।

नंबर सात—एक चाँदी का कौआ।

नंबर आठ—एक सोने का कौआ।

इस प्रकार लापरवाही का इलाज करने के लिये घर कौओं से भर दिया गया। अपनी इसी महिमा के कारण बीसवीं सदी के ये कौए कैसे प्रसन्न दिखाई देते हैं। मानो कह रहे हैं—"यह कौओं का युग है, कौओं का।

# कुंद-ज़हन

"तुम तो बिलकुल ब्रेन-हीन हो।"

"ब्रेन-हीन क्या?"

"दिमाग़-लेस।"

( १ )

लोग कहते हैं, तू कुंद-ज़हन है। लेकिन क्यों हूँ, कब हूँ, कहाँ हूँ, किसलिये हूँ, इत्यादि बातों का ठीक-ठीक जवाब मुझे आज तक न मिला। यदि कभी किसी माई के लाल ने उत्तर देने के लिये अपने 'मुख-रूपी गढ़े' के ढक्कन को हटाया भी, तो व्याकरण की या मुहावरे की ग़लती उसके वाक्यों में निकाल-कर या "मैं तुम्हारी बात नहीं सुनना चाहता" इत्यादि के 'घात-पात' से फ़ौरन उसका मुँह मूँद दिया। बस, जवाब न मिल सका। और, बिना जवाब मिले बंदा लोगों की बात कैसे मान ले? इसलिये मैं अपने को कुंद-ज़हन कहने को हर्गिज़ तैयार नहीं। हाँ, अगर कोई यह बात साबित कर दे, तो मैं उसका लोहा मान उसका 'टाँग-तल-निर्गत' हो जाऊँ, यानी उसकी टाँग के नीचे से निकल जाऊँ। वरना ऐसी—मेरे शब्दों में 'बेटोपी-जूते की', पर आपके शब्दों में बेसिर-पैर

की—बात मैं नहीं मान सकता। क्योंकि अव्वल तो मैं लंबा-तड़ंगा साढ़े तीन फीट का जवान हूँ; दोयम, भारी-भरकम डील-डौलवाला हूँ। सोयम, बड़ा कसरती हूँ, रोज़ चाय पीकर डंड पेलता हूँ। चहारुम, सिर्फ चार लड़कियों का पिदर हूँ। पंजुम, दूसरी अंगरेजी क्लास तक तालीम पाया हुआ 'सुशिक्षित युवक' हूँ। और खष्टुम, बिना विषय समझे ही बहस करने में तेज हूँ। सब सच पूछिए, तो बस, बहस ही बहस मेरी जान है, और मैं बहस की जान हूँ। यानी महाकवि 'खाक' के शब्दों में "बहस है मुझ पर फ़िदा, और मैं फ़िदाए बहस हूँ।"

इसलिये आप अक्सर मुझे 'बहस फ़ार दि सेक आफ़ बहस' करते पावेंगे। तिस पर तुर्रा यह कि किसी के मन की बात समझने की ताक़त अल्लाह ताला ने मुझे ग़ज़ब की दी है। ठीक-ठीक याद तो नहीं, पर ज़रूर ही अपनी पैदाइश के वक्त मैंने खुदा को अच्छी, मोटी रक़म रिश्वत में दी होगी, तभी न आप लोगों से लुका-छिपाकर उसने यह ताक़त मुझे दी है। आप मुँह से न बोलिए, मैं बतला दूँगा, आप क्या कह रहे हैं। मेरे कहने में आप हर्गिज़ ग़लती न निकाल सकेंगे। क्योंकि जवाब मँजा हुआ होता है, क़लईदार। यानी मैं कह दूँगा—"आप कुछ नहीं कहते, चुप हैं।" बस, अब पटकिए सिर। कहाँ ग़लती आप निकालेंगे!

फिर भी ये दईमारे कहते हैं, तू कुंद-ज़ह्न है। और तो और, बड़े-बड़े सींगधारी, अर्थात् जिनकी पूँछ आगे होती है,

यानी वकील और बैरिस्टर तथा दो-चार किताबें पढ़कर मेरे शब्दों में 'उजबुक', पर आपके शब्दों में बी० ए०, हो ज़मीन से एक फुट ऊपर चलने वाले भी मुझे कुंद-ज़हन कहते हैं। एक बार मास्टर ने तो यही कहकर मुझे क्लास के 'बहिर्गत' कर दिया था। बात तब की है, जब मैं 'स्थानीय शिक्षालय' के एक ऊँचे दर्जे में (उसे दूसरी क्लास कहकर मैं उसका दिल न दुखाऊँगा) पढ़ता था। उन दिनों मुझे अँगरेज़ी-शब्दों को शुद्ध हिंदी-शब्द बना लेने का शौक़ चींटे की तरह लगा हुआ था। इससे यह न समझिए कि मुझे उनका उच्चारण न आता था, वरन् मैं दूसरी ज़बान की 'शुद्धि' कर और उसे अपनी भाषा में मिलाकर अपनी दरियादिली का डंका पीटना चाहता था। इसलिये 'टेबिल' को 'तेबिल' और 'डेस्क' को 'देस्क' कहता था। क्लास के लड़के न-जाने क्यों मेरा बोलना सुन हँसते, और मास्टर साहब कहते कि तुम बोलते वक्त मुँह में कंकड़ रख लिया करो, बच खाया करो, काली मिर्च चबाया करो, ऐंड सो आन। पर 'पागल का प्रलाप' समझ मैं उन लोगों की बात ही न सुनता था। मेरा तो उसूल था कि हाथी को चलने दो, कुत्तों के भूँकने की परवा मत करो।

एक रोज़ मास्टर साहब 'स्त्री' जिसको वह 'हिस्ट्री' कहते पढ़ा रहे थे। लेकिन मेरी समझ में नहीं आता था कि ऐसे मामूली विषय की ओर ध्यान क्यों दूँ। इसलिये अपने बाज़ू में बैठे हुए लड़के से एक गहन विषय, अर्थात् कनकउवा उड़ाने

के बारे में बहस—क्योंकि मैं बातचीत नहीं, अक्सर बहस ही करता हूँ—कर रहा था। वह कहता था, पतंग लड़ाते वक्त ज्यों ही दुश्मन की डोर अपनी डोर पर पड़े, त्यों ही एक 'झटका' देकर ढील देनी चाहिए। मेरा कहना था, नहीं, ढील देनी ही न चाहिए। ढील देने से ही कनकउवा कटता है। क्योंकि जाहिर बात है कि ढीले आदमी का सब दबा लेते हैं, मियाँ अकड़ से कोई नहीं बोलता। इसलिये अगर ढील बिलकुल न दी जायगी, तो तुम्हारी डोर कड़ी रहेगी, और दुश्मन की पतंग आप-से-आप कट जायगी। पर वह लड़का मेरी बात न मानता था, और मैं किसी तरह उससे अपनी बात मनवाना चाहता था। बस, इसी सबब से हम लोगों में बहस हो रही थी। पर उसी समय हमारी बहस का 'ट्रैंड' टूट गया, जैसे बाँस की पतली कमानी जोर पड़ने से चट से टूट जाय। वह विषय शायद मास्टर साहब को भला न मालूम हुआ, क्योंकि दूध में मक्खी की तरह कूदकर उन्होंने पूछा—"क्योंजी, क्या समझे?" सवाल मुझसे किया गया था।

मैंने फ़ौरन बैठे-बैठे उत्तर दिया—"स्त्री।"

मालूम नहीं, मास्टर साहब क्यों चिढ़ गए। शायद मेरे बैठने से उन्हें रश्क पैदा हो गया (क्योंकि वह खुद खड़े-खड़े पढ़ा रहे थे)। तेजी से बोले—"खड़े होकर बोलो, क्या समझे?"

और भई, खड़े होकर अपना जवाब दोहरा दिया।

मास्टर साहब कुछ चौंक-से पड़े। वह स्त्री-जाति की चीज तथा स्त्रीवाचक और स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों के जरा ज्यादा शौक़ीन थे। शायद इसीलिये अपने अब्बाजान से कहकर उन्होंने अपना नाम 'सीनाअली' रखाया था, जिसके दोनों शब्द स्त्रीलिंग थे। बोले—"क्या कहा ? स्त्री ?"

मैंने कहा—"जी हाँ।"

बोल—"कहाँ है ?"

मैंने कहा—"एक आपके 'कोत' के 'पाकेत' में, दूसरी मेरी देस्क में। मेरी 'स्त्री' और आपकी 'स्त्री' दोनों सगी बहनें हैं।"

मैंने देख लिया था कि स्त्री उर्फ हिस्ट्री की एक किताब मास्टर साहब कोट की जेब में डाले थे। उसी की एक प्रति उसी प्रेस की छपी हुई मेरे पास देस्क उर्फ डेस्क में मौजूद थी। अतः मेरे दोनों उत्तर सही थे, क्योंकि दोनों पुस्तक एक ही मा के पेट से पैदा हुई थीं। पर जवाब ग़लत न होने पर भी—मालूम नहीं, क्यों—क्लास के सब लड़के खिलखिला उठे! वे क्यों हँसे, यह मेरे लिये हमेशा प्रश्न ही रहा। खैर, कारण कुछ भी, पर नतीजा उसका मेरे लिये अच्छा हुआ, यह मैं क़सम खाकर कह सकता हूँ। क्योंकि दरवाजे की ओर अपनी 'शुभेच्छा-सूचक' उँगली उठा कर मास्टर साहब ने कहा—"निकल जा क्लास के बाहर कुन्द-जहन कहीं का! घंटे भर से दिमाग़ खपा रहा हूँ, कुछ समझा ही नहीं। पूछने पर आयँ-शायँ बकता है।"

ख़ैर, निकल जाने में तो मुझे कोई उज्र न था, पर इस तरह डाँट कर निकाला जाना कुछ नागवार-सा गुज़रा, हालाँकि थी मेरे फ़ायदे की बात, यानी पढ़ाई से बग़ैर माँगे छुट्टी मिल रही थी। कितने सौभाग्य की बात थी पर यह सौभाग्य बहुत प्यारा न जचा, क्योंकि मास्टर की डाँट दाल में खटमल की तरह खटक गई थी। अगर वह प्रेम-पूर्वक मुझ से बाहर निकल जाने की प्रार्थना करता, तो शायद उसके कहने के पेश्तर ही मैं चला जाता, और फिर बन्दूक की गोली की तरह कभी न लौटता। पर इस समय अड़ गया, जैसे डण्डा खा कर अड़ियल टट्टू आगे जाने से इनकार कर देता है। मैंने तय किया कि बहस कर मास्टर को उसकी ग़लती दिखला दूँ, फिर बाद में बाहर निकल जाऊंगा। अतएव मैंने शान के साथ गर्दन ऊँची और कुछ टेढ़ी कर बहस का पहला चाबुक छोड़ा। कहा—

"मास्टर साहब, आपकी तालीम अभी अधूरी है। एक भले आदमी से किस तरह पेश आना चाहिए, यह आपको नहीं आता। बेहतर होगा, अगर आप पढ़ाना छोड़कर फिर पढ़ना शुरू कर दें। ख़ैर—

"निकलने के लिये अगर आपने आरज़ू-मिन्नत की होती या प्यार या नरमियत से कहा होता तो मैं कभी का चला जाता; पर आप इस तरह बोले हैं, जैसे यह ज़मीन आपके, मेरे शब्दों में 'खुदाई पर आपके शब्दों में 'मरे हुए' बाप की हो, और

आप उस पर आ खड़ा होना गवारा न कर सकते हों। पर यह आपकी भारी ग़लती है। ज़मीन किसी की हो, इससे मुझे कोई मतलब नहीं, पर इस जगह का मैं हर महीने किराया देता हूं, जिसे आप 'फ़ीस' कहते हैं। अतः इस स्थान पर तब तक मेरा हक़ है, जब तक महीना खत्म न हो जाय। मैं चाहूँ, तो मेख की तरह चौबीस घण्टे यहाँ डटा रहूं, या हवा की तरह बिलकुल न बैठूं। आपको इससे कोई वास्ता नहीं। रही दिमाग़ खपाने की बात, सो यह करने के लिए मैंने आपसे कब कहा था? कब मैं इसके लिये आपके पैर पड़ने, हाथ जोड़ने गया था? आप ख़ुद क्लास में घुसते ही नए मेंढक की तरह कराहने लगते हैं, जैसे आपको इसका रोग हो गया हो मैं तो कहूंगा, बल्कि आपने मेरा दिमाग़ चाट लिया। न मानिए, तो बुलवाइए लोहार को, मैं खोपड़ी फोड़ कर दिखाता हूँ। देखिए, बिलकुल खाली हो गई है या नहीं।"

यह कह मैंने ऐंठकर अपने चारों ओर देखा, जैसे साँड अपने विपक्षी को हराकर गायों के झुण्ड की ओर देखता है। मुझे उम्मीद थी, बहुत-से लड़के मेरी तारीफ करते होंगे, कुछ मेरी पीठ ठोकने आ रहे होंगे, और बाक़ी मास्टर पर हिकारत और रहम की नज़र फेंक रहे होंगे; पर यह सब ख़याल-ही-ख़याल निकला। मैंने देखा; सब लड़के चुपचाप बैठे सोंठ हो रहे थे। पता नहीं क्यों सब घबरा से गए थे।

मेरे इस छोटे-से; पर ज़ोरदार लेक्चर का असर उस मास्टर

पर क्या हुआ, यह तो मैं कभी न जान सका; पर हाँ, यह हो गया कि स्कूल से मुझे हमेशा के लिये छुट्टी मिल गई। मास्टर ने बाहर निकाला, तो हमेशा के लिये। पर यह मानने को मैं हर्गिज़ तैयार नहीं कि मेरी 'स्पीच' का असर उस मकीनाअली पर कुछ नहीं हुआ। मुझे तो यक़ीन है कि उसने मेरी दलीलों की ताक़त मान ली होगी, और मेरी लियाक़त का दम भरने लगा होगा।

मास्टर के फंदे से छूटकर घर आते ही दूसरी आफ़त में धँस पड़ा। मैं समय से पहले ही बेमौक़े के कद्दू की तरह आ टपका था, इसलिये मेरे पैर घर की ज़मीन पर पड़ने भी न पाए थे कि चाचा जी मेरी गर्दन पर चढ़ बैठे। ठीक से साँस भी न लेने दी, लगे सवाल-पर-सवाल ठोंकने। ख़ैर, किसी तरह हाँफ़ते-हाँफ़ते मैंने उनकी बातों का जवाब दिया—"मास्टर ने घर जाने को कहा, इसलिये चला आया। उसने यह भी कहा है कि अब तुम कभी स्कूल मत आना। काफ़ी पढ़ चुके हो, आगे पढ़कर क्या करोगे!" पर असल बात कहना मैं न भूला, यानी कह दिया कि मास्टर खुद कम पढ़ा है, इसलिये मुझसे डरता है कि कहीं मैं उसकी ग़लती न निकालूँ। अतः वह नहीं चाहता कि मैं उसके क्लास में जाऊँ।

मेरी बात ने कहाँ तक चाचाजी पर असर डाला, यह तो ठीक-ठीक नहीं कह सकता, पर यह मालूम है कि उन्होंने कहा था—"यह कुंद-ज़ेहन है, क्या पढ़ेगा!"

इस तरह और भी कई मौक़े आए, जब अपने लिए यही 'एपीथेट' मुझे सुनना पड़ा, और कभी-कभी तो ऐसे अवसर पर, जब मैं अपनी वहम की सबसे ऊँची सीढ़ी पर था, जहाँ से यह शब्द सुनते ही फ़ौरन् लड़खड़ाकर गिर पड़ा, जैसे ख़ूब ज़ोर से चलती साईकिल पर से कोई गिर पड़े। उस समय आत्मविश्वास, आत्मसंयम, स्थैर्य, धैर्य आदि एक भी काम न आए। सब इस तरह ग़ायब हो गए, जैसे गुस्से से भरा हुआ बाप का चेहरा देखते ही नटखट लड़का फ़रार हो जाता है। मैंने बारहा अपने को सँभालने की कोशिश की, पर सँभाल न सका। न-जाने इस शब्द में क्या जादू है, जो यह हमेशा मुझे 'अननर्व' कर देता है, और मेरी सब शक्तियों को जैसे लकवा मार जाता है। पर यह बात, यह कमज़ोरी हमेशा से न थी। पहले जब मैं छोटा था, जब स्कूल में पढ़ता था, तब इस शब्द को सुन कर भी मज़बूती से खड़ा रह सकता था, लेकिन आज कल तो अब दिल के साथ ही पैर भी काँपने लगते हैं।

ख़ैर, कुछ भी हो, यह शब्द मेरी जान ही क्यों न ले ले, पर यह मैं हर्गिज़ न मानूँगा कि मैं कुंद-ज़हन हूँ, चाहे कोई लाख सिर पटके, नाक रगड़े, हाथ जोड़े, पैर पड़े। मैं जो हूँ, वह मैं जानता हूँ। पर कुंद-ज़हन नहीं हूँ। सब कुछ हूँ, बस यही एक नहीं हूँ।

( २ )

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मैं कुंद-ज़हन क्यों हूं, कैसे हूं, इत्यादि प्रश्नों का उत्तर मुझे किसी ने अभी तक नहीं दिया। दिया क्या, देने ही नहीं पाया। पर आज एक ऐसे धमधूसर-चंद उर्फ दाल-भात के मूसलचंद से भेंट हो गई, जो मेरा भी नकड़ चाचा निकला। खुदा ऐसे मुर्दा-दिलों से किसी की मुलाकात न कराए, जो किसी की बात ही नहीं सुनना जानते, अपनी धुनते जाते हैं। यह मूसलचंद भी ऐसे ही जमदूतों में से एक था। मैंने लाख ग़लती निकाली, व्याकरण और मुहावरे की अशुद्धियाँ बतलाईं, उसके वाक्यों का प्रवाह 'इर्रेलेवेंट' था, यह बतलाया, पर उस लकड़ी के कुंदे पर ज़रा भी असर न हुआ। लाचार मैंने कह दिया—"मैं तुम्हारी बात नहीं सुनना चाहता। चुप हो जाओ।" पर वह तो जैसे बोलने का जुलाब लेकर आया था, दस्त-पर-दस्त करता गया। आख़िर घबराकर मैं उठने लगा, तब उसने मेरी कलाई पकड़ी। बोला—'बैठो, जाते कहाँ हो। मैं साबित करता हूँ कि तुम कुंद-ज़हन हो!" मैंने हाथ छुड़ाने की कोशिश की, पर मेरी कलाई उस कमबख़्त के हाथ से ऐसी चिपट गई थी, जैसे शहद में मक्खी। हज़ार खींचा-तानी, पर उसका प्रेम इतना फसफसा गया था कि अलग ही न हुई। लाचार खीज-पटककर मैं चुप बैठ रहा। वह शैतान का खालू एक के बाद एक शब्द 'मशीनगन' की

गाली की तरह छोड़ने लगा। पर मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि मैंने उसकी सब बातें नहीं सुनीं। क्योंकि जब और कोई जरिया न देखा, तब मैंने अपने कान बन्द कर लिए। हाथ से नहीं, ऐसा करता, तो जरूर ही वह कमबख्त मार बैठता, वरन् उस शक्ति से, जो ईश्वर ने ऐसे मौक़ों पर काम में लाने के लिये मुझे दी है। इस शक्ति के द्वारा मैं अपने कान बिना हाथ की सहायता के, 'नकघुँघनी' की डिबिया की तरह, बन्द कर सकता हूं, जिससे बाहर का कूड़ा-करकट अन्दर न जाय। इस बार भी मुझे यही करना पड़ा। फिर भी उस दुष्ट के कुछ शब्द मेरे कान में पहुंच चुके थे, जिन्हें निकाल बाहर करने की ताक़त खुदा ने मुझे नहीं दी, नहीं तो और अच्छा होता। खैर, वे शब्द जिसमें कान भुने पापड़ की तरह न खड़कें, इसलिये आपसे कह देना ही, मैं सोचता हूँ, अच्छा होगा। विकार शरीर से निकाल देना ही बुद्धिमानी है।

जो मैं आपसे कहने जा रहा हूं, वह एक मुक़द्दमे की बाबत है, जो अपनी जिंदगी में मैंने पहली और आखिरी बार लड़ा था।

× × ×

मेरे चाचा ने किराने की एक दूकान खोलने का इरादा किया, और जल्द ही उसका सामान भी इकट्ठा करने लगे। मैंने बारहा उन्हें रोका, लाख तरह समझाया कि दूकान न खोलिए, पर उन्होंने एक न सुनी। दूकान खोल ही दी। लेकिन

मेरा कहना न मानने का नतीजा उन्हें हाथों-हाथ मिला। कुछ दिन बाद ही वह फौत कर गए। इस बात से मैं मन-ही-मन खुश तो हुआ कि मेरे रोकने पर ध्यान न देने के कारण उनकी जान गई, यानी देवतों में भी मेरी इतनी धाक है कि मेरी हुकम-उदूली वे न सह सकें; पर ऊपर से दिखाने के लिये रो-धोकर उनका क्रिया-कर्म किया। अब वह दूकानरूपी बला मेरे गले पड़ी।

यह बात नहीं कि मैं दूकान का काम न कर सकता था, अगर इच्छा करूँ, और अपना तेज दिमाग़ लड़ाऊँ, तो दूकान क्या, किसी बड़ी भारी 'डोमीनियन' का काम भी मैं संभाल सकता हूं। पर मुझ में यह एक बड़ा भारी गुण समझिए कि मैं कभी अपना दिमाग़ फ़िज़ूल की बातों में खर्च नहीं करता। कोई बहस उठ खड़ी हो, फिर देखिए, मैं क्या-क्या दलीलें पेश करता हूं, सुनने वाले दंग रह जायँ। पर दूकान-सरीखे तुच्छ काम के लिये मेरे विचार में जरा भी दिमाग़ खर्च करना बेवक़ूफ़ी थी, फिर भला वह मैं कैसे करता? नतीजा, लोग कहते हैं, मुझे तो मालूम नहीं, बुरा हुआ। अर्थात् लोग बहुत-सा माल उधार खा गए, और रुपया देने में 'ऊँहूँक' करने लगे। मेरे खयाल से तो यह कोई बुरी बात न थी, क्योंकि मेरी दूकान में खाने की ही चीज़ें थीं, अगर लोग खा गए, तो क्या बुरा किया? पर मेरे वकील को यह बात न जँची (क्योंकि इस तरह उनकी कौड़ी चित न होती)।

उन्होंने बार-बार ज़ोर दिया कि मै नालिश करूँ। अगर एक पर डिक्री हो गई, तो दूसरे खुद रुपए दे जायँगे। नहं इस तरह दूकान बरबाद हो जायगी। खैर, बरबाद होने का डर तो मुझे न था, पर हाँ लोगों के कहने-सुनने से एक ग्राहक पर ४०) की नालिश कर दी। नालिश करना मुझे न अखरता, एक नहीं, सौ नालिशें कर देता, अगर कोर्ट-फ़ीस और वकील की फ़ीस न देनी पड़ती। देने के लिये मैं तैयार भी न था पर मालूम हुआ कि बग़ैर कोर्ट-फ़ीस लगाए नालिश नहीं हो सकती। लाचार दाँत कचकचा कर (जिसमें मुँह से कुछ निकल न आए) उसके रुपए जेब से निकाल दिए, और वकील की फ़ीस के बारे में तो समझ लिया कि रुपए पानी में गिर गए। क्योंकि हमारे वकील साहब चाय बहुत पीते थे, और शायद इसी सबब पेशाब ज्यादा करते थे। मेरे रुपए चाय के लिये ही बस हुए होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं, और फिर वकील साहब ने किया होगा पेशाब। इसलिये मैंने समझ लिया कि रुपए पानी में गिर गए, क्योंकि वह पेशाब मोरी से बहकर नदी में ही तो गिरा होगा।

केस चला। सब-जज की अदालत में मेरी बुलाहट हुई। उस दिन पहले पहल कोर्ट देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वकील साहब ने पहले ही कह रक्खा था कि साफ़-सुथरे कपड़े पहन कर कोर्ट आना। बस, सबसे बेशक़ीमत ड्रेस जो मेरे पास थी, उसी को पहन कर जाना मैंने ठीक समझा।

उस दिन जब मैं अपना लाल फूलदार कोट पहन कर कोर्ट जाने के लिये बाजार से निकला, तो सारे बाजार की आँखें मुझ पर टूट पड़ीं, जैसे लाल गुड़ पर मक्खियों का झुण्ड टूटता है। एक से न रहा गया, पूछ ही बैठे—"क्या किसी की शादी में जा रहे हो ?"

मैंने कहा—"हाँ।"

उन्होंने पूछा—"किसकी ?"

मैंने चट कह दिया—"सब-जज की।"

"वाह यार, खूब दूर की उड़ान मारी।" कह कर वह चलने लगे।

मैंने रोक कर कहा—"तुम भी चलो न।"

वह बोले—"नहीं भाई ! एक तो मुझे निमन्त्रण नहीं मिला। दूसरे आज कल सारे काम के मरने तक की फुर्सत नहीं, और शादी में लगेंगे कई दिन। तुम्हीं जाओ। मजे में शोरबा-पूरी उड़ाना।"

मैंने उनके सामने ही मूँछों पर ताव दिया, और कोर्ट की ओर चल दिया। खैरियत थी, बेचारे को ठीक मालूम न था कि सब-जज की शादी दरअसल हो रही है या नहीं, नहीं तो मुझे बहस करनी पड़ती।

कोर्ट पहुँचकर मैं सिर्फ दो या तीन घण्टे ही आराम से बैठ पाया था कि एकाएक एक पीली वर्दीवाला चपरासी मेरे साथ मेरे पिता का नाम लेकर जोर से गरज उठा। मुझे तो

सुनकर होल-दिल हो गया। डर लगा, कहीं वह इंसाननुमा भालू काट न खाय। फिर हिम्मत कर धीरे-धीरे उसके पास पहुँचा, और डरते-डरते पूछा—"कहिए साहब, क्या है ?" उसने बेरुखाई से कहा—"पुकार हुई, चलो।" उससे दुबारा कुछ पूछने का साहस न हुआ। डर था, कहीं फिर न गरज उठे। आखिर एक दूसरे शख्स से 'पुकार' का मतलब पूछा। मालूम हुआ, मैजिस्ट्रेट ने बुलाया है। बस, चट कान-पूँछ झाड़ कर सामने के एक दरवाजे में घुस पड़ा।

मेरे वकील ने मुझसे पहले ही कह रक्खा था कि सब जज मुसलमान है। जब उसके सामने जाना, तब नम्रता से पेश आना। मैं घर से इसके लिये तैयार होकर आया था। जिस कमरे में मैं घुसा, उसमें दरवाजे के सामने ही कमरे के बीचों-बीच एक मुसलमान सज्जन बैठे कुछ लिख रहे थे। बस, मुझे समझते देर न लगी कि यही सब-जज है। खूब झुककर सलाम किया, और फिर बहुत मीठे तथा नम्र स्वर में—न हुआ वहाँ कोई कवि, नहीं तो उसे 'वीणा-विनिंदित स्वर' कह बैठता—कहा—"हुजूर, मैं आ गया।"

कुर्सी पर बैठे उस भले आदमी ने सिर उठाया, और अपनी बिल्ली की-सी आँखों से चश्मे के भीतर से मुझे घूरने लगा। उसकी आँखें देखकर तो मुझे उसके सब-जज होने पर सन्देह हुआ, पर फिर यह सोच कर कि शायद बिल्ली की-सी आँखों-वालों को ही सरकार सब-जज बनाती हो, क्योंकि ऐसे लोग बहुत

अच्छा देख सकते हैं, मैंने अपना संदेह दबा लिया। उसी समय उन साहब ने पूछा—"कहिए, क्या चाहिए?"

मैंने फिर मुलायम आवाज़ में कहा "अभी हुज़ूर ने ही तो अपनी पुकार-रूपी कोमल वाणी से अपने चपरासी-रूपी कलम के द्वारा मुझ नाचीज़ को याद फ़रमाया था।"

वह आदमी फिर मुझे सिर से पैर तक देखने लगा। उसी समय बग़ल में किसी की 'क़हक़हे-दीवार' फट पड़ी। अभी तक मुझे यह पता न था कि कमरे में और भी कोई है। मैंने दरवाज़े के अन्दर घुसते वक़्त आस-पास न देखा था। सीधा घुसा था, सीधा ही जाकर खड़ा हो गया था। अब घूमकर देखा, तो एक बेदुम का गधा कुर्सी पर बैठा मुझे देख-देखकर हँस रहा था। वह कभी मेरे चेहरे की ओर देखता, कभी अदब से आगे झुके मेरे बदन की ओर और कभी मेरे लाल फूलदार कोट की ओर। मुझे ताज्जुब हुआ कि सब-जज के सामने ही इतने ज़ोर से हँसने की हिम्मत इसकी कैसे हो गई। तब क्या मेरा पहला शक ठीक था? क्या यह सब-जज नहीं है? मुझे मालूम हुआ, जैसे मैं फँसा जा रहा हूँ। उसी समय सामने वाले उस भले मानस ने दाँत निकालकर कहा—"जनाब, आप कमरा भूल गए। सब-जज साहब की अदालत उधर के कमरे में है, उस तरफ़।" कहकर वह भी ज़ोर से हँस पड़ा।

आह! बेरहम! यह कहने के पहले एक कुर्सी खींचकर मेरे

सिर पर क्यों न मार दी, ताकि मैं सुनने के पहले ही बेहोश हो जाता। इस तरह बेवकूफ़ तो न बनता। शर्म के मारे मैं तो जैसे कट गया। जल्द-जल्दी दरवाज़े की तरफ़ भागा। मुझे उन लोगों के हँसने पर ज्यादा रंज न था, न अपनी ग़लती पर सद अफ़सोस था, दुःख था, तो सिर्फ़ एक बात का कि मेरा सलाम और इस तरह नरमियत से बोलना सब फ़िज़ूल गया। कितनी मेहनत से महीने-भर में उन्हें सीखा था!

लेकिन बदक़िस्मती ने पीछा न छोड़ा था। जल्दी में—कुछ दौड़कर—दरवाज़े से बाहर निकला, तो एक 'भूधर' से टकराकर मुँह के बल ज़मीन पर आ रहा। ख़ैरियत थी कि वक्त पर हाथ सामने टेक देने की सूझ, गई वर्ना पत्थर के फ़र्श पर गिरकर एक भी दाँत साबित न बचता। ख़ैर, किसी तरह काँख-कूँखकर उठा, और घुटने टटोलने लगा कि कहीं लगा तो नहीं। लेकिन यह घुटना टटोलना सिर्फ़ एक बहाना था। असल में मैं अपने गिराने वाले पर गुस्सा बुला रहा था। यही एक ऐब मुझमें है कि ऐसे मौक़ों पर गुस्सा एकदम नहीं आता, उसका 'आह्वान' करना पड़ता है। विना बुलाए वह कमबख्त भी नए दामाद की तरह अकड़ जाता है, पास नहीं फटकता! इसलिये मैं देह टटोलने के बहाने गुस्सा इकट्ठा करने लगा—"इस बदमाश ने जान-बूझ कर मुझे गिराया है। यह इसका 'प्रिकंसीव्ड इंटेंशन' था, नहीं तो क्यों दरवाजा रोक कर खड़ा होता? क्या अंधा? दिखलाई नहीं पढ़ता था कि मैं आ

रहा हूँ ? हटा क्यों नहीं ? अभी मैं जख्मी हो जाता, तो ? अच्छा बच्चा, ले।" तब, गुस्सा अपनी जवानी पर पहुँच चुका था। चट मैंने मुट्ठी बाँधकर घूँसा उस आदमी की ओर बढ़ाया, पर हाथ उसके मुँह के पास पहुँचते-पहुँचते रुक गया। वह तो मेरे वकील साहब थे।

वकील साहब चिल्लाकर बोले—"अरे ! यहाँ क्या कर रहे हो ? जल्दी चलो, जज साहब देर होने से नाराज हो रहे हैं।"

गरम पानी के घूँट की तरह मैंने गुस्सा पी लिया। बोला—"चलिए, वहीं तो आ रहा था।"

इस बार मैं जिस कमरे में घुसा, उसमें बैठे मुसलमान सज्जन को लंबा चौड़ा तो क्या, छोटा-मोटा सलाम भी न किया, न नम्रता से बोला ही। इतना बेवकूफ मैं न था कि एक बार धोखा खाकर उसे इतनी जल्दी भूल जाता। आकर चुपचाप एक तरफ खड़ा हो गया।

सब-जज ने सिर उठाया, गौर से मेरी ओर देखा, फिर मेरे लाल फूलदार कोट पर निगाह डाली, और तब वकील की ओर देख कर कुछ कहा, और हँस दिया। उसने क्या कहा, यह समझाने के लिये तो मैंने अपने जरदोजी और खुशनुमाई का काम किए हुए बेशकीमत दिमाग पर ज्यादा जोर न डाला, क्योंकि उसने अँगरेजी में कुछ कहा था, पर इतना मैं समझ गया कि मेरे कोट के बारे में कुछ कह रहा है। यह सोचकर मैं जल उठा। गुस्सा तो कुछ पहले का ही था, अब अरबी घोड़े

की तरह और भड़क उठा। मैं बोला—"कोट से आपको क्या मतलब? जिस काम के लिये मैं यहाँ बुलाया गया हूँ, वह करिए।" इस बार शायद ही कोई कवि का बच्चा मेरे स्वर को 'वीणा-विनिंदित' कहता, इस तरह डाँटकर मैं बोला था।

मेरे इस कथन का इतना जबर्दस्त और राममूर्ति-सा मस्त प्रभाव होगा, यह मुझे सपने में भी किसी ने न बतलाया था, नहीं तो शायद कथन की उग्रता श्मशान की भीषणता को मात करने लगती, और सब-जज कहलाने वाला 'खुदाई-नूरी' डरकर मुँह के बल दवात पर गिर पड़ता। पर यह नहीं हुआ। मेरी बात सुन जज के चेहरे पर से हँसी एकदम काफ़ूर हो गई। वह गंभीर हो गया। उसने एक बार मेरी तरफ़ देखा, और क़लम उठाकर दवात में डुबोने के लिये बढ़ाई। मैंने 'विजय-गर्व' से ऐंठकर वकील की ओर देखा। मुझे यक़ीन था, वह मेरी हिम्मत देख फूलकर कटघरे में 'न अँटने लायक़, हो गया होगा। पर मालूम नहीं, क्यों वह सकपका रहा था।

उसी समय सब-जज ने पूछा—"तुम्हारा नाम?"

मुझे उसका सवाल सुन उसके कुछ पागल होने का शक हुआ। अभी उसने ही न चपरासी के ज़रिए मेरा, मेरे शब्दों में 'सपिदर' पर आपके शब्दों में सपिता नाम लेकर मुझे बुलवाया था? फिर इतनी जल्दी कैसे भूल गया? मैंने सोचा, अगर और एक दफ़े डाँट दूँ, तो इसका खब्त निकल जायगा,

और यह राह पर आ जायगा। फिर ऐसे ऊटपटाँग प्रश्न न करेगा। यह सोचकर मैंने कहा—"आप भी अजी भुलक्कड़ मालूम होते हैं। अभी चपरासी के जरिए मेरा नाम लेकर मुझे बुलवाया, और अब नाम भूल कर फिर पूछ रहे हैं। नशा खाकर कोर्ट में मत आया कीजिए।" यह कह फिर मैंने विजय-गर्व से अपने वकील की ओर देखा। इस बार ज़रूर ही वह मेरी तारीफ़ के तार बाँध देगा, पर जाने क्यों उसका तो चेहरा सफेद हो गया था। मैं समझ गया, यह बहुत ही तुच्छ और डरपोक आदमी है। अगर एक-आध बार और मैंने इस सब-जज नामी 'खर' को डाँटा, तो इन वकील राम का 'पैंट' बिगड़ जायगा।

पर इस बार जैसा सोचा था, वैसा नतीजा न हुआ, जज का चेहरा लाल हो गया। उसने पेड़ की टूटती हुई डाल की तरह कड़ककर कहा—"जनाब, आप कोर्ट में खड़े हैं, घर में नहीं। कोर्ट के क़ायदे के मुताबिक़ ठीक-ठीक जवाब दीजिए फिज़ूल बात मत बकिए। अपना नाम बोलिए।"

खैर, मैं कोर्ट में होऊँ या फ़ोर्ट में, मैं हर्गिज़ अपना 'इस्म मुबारक, बतलाने के इरादे में न था, पर मेरे वकील ने मुझसे बग़ैर पूछे ही उसे मेरा नाम बतला दिया। मैं तो यही कहने वाला था कि उसी चपरासी को बुलवाइए, जो मेरा नाम लेकर गला फाड़कर चिल्लाया था। वही आपको भूली बात याद दिलावेगा।

ख़ैर साहब, नाम लिखा गया, बाप का नाम लिखा गया, और रहने का ठिकाना वग़ैरह। मेरे शब्दों में 'बात-ये-व्यर्थ' पर आपके शब्दों में व्यर्थ की बातें लिखी गईं। मैंने तो सोच लिया था कि ऐसे पागल के मुँह कौन लगे, चुप ही रहना बेहतर है। मेरा वकील सब बातों का जवाब देता गया। बंदा चुप-चाप खड़ा सुनता रहा। बहुत-सी 'समस्याएँ' हल हो जाने के बाद जज ने पूछा—"आपके चचाजान कब मरे ?"

अब मैं मौन न रह सका। अपनी धाक जमाने का लोभ लार बनकर टपक पड़ा। ज़बान से आप-ही-आप निकल गया—"मेरा कहना न माना, तो मर गए।"

जज ने मेरी तरफ़ कुछ देर तक देखा। उस समय उसके चेहरे पर कुछ मुस्किराहट थी। कहा—"मैं पूछता हूं, कब मरे ?" वकील ने तारीख़ बतला दी। मैं फिर चुप हो गया।

जज जब वकील से बात करता था, तब अँगरेज़ी में बोलता था; जब मुझसे कुछ पूछता था, तब 'मांग्रल' भाषा में यानी उस ज़बान में, जिसकी माँ तो हिंदी है, पर बाप अँगरेज़ी ! इसलिये मैं उसकी बात कभी-कभी न समझ पाता था, क्योंकि मैं था शुद्ध हिंदीज्ञ', और वह बोलता था अशुद्ध। अगर वह साफ़ हिंदी या हिंदी की 'ममेरी' बहन उर्दू में बात करता, तो मैं कभी पीछे पैर न देता, पर इस वक्त कुछ लाचारी थी। इसलिये जज ज़्यादातर वकील से ही बात करता था। मैं चुप-चाप खड़ा था।

लेकिन खड़े-ही-खड़े मैंने इस बात का निश्चय कर लिया कि अब तो कुछ भी यह पूछेगा, उसका उत्तर नम्रता से दूँगा। पागल हो या बेवक़ूफ़, है तो आख़िर हाकिम ही। कैसा भी हो फ़ैसला करना इसी के हाथ में है, चाहे तो जिता दे, चाहे तो हरा दे। वकील ने भी मुझसे कहा था कि यदि नम्रता से उससे बोलोगे, और वह खुश हो जायगा, तो तुम्हारे फेवर में फ़ैसला कर देगा। मुझे चाहे सब-जज से नफ़रत हो, पर अपनी जीत से हर्गिज़ नफ़रत न थी, इसलिये मैंने निश्चय किया कि अब की बार अपनी नम्रता से उसे उतना ही खुश कर लूँगा, जितना अपने साहसी व्यवहार से नाराज़ किया है।

उस वक्त वकील और जज में दूकान से लेन-देन के बारे में बात हो रही थी। वकील हिंदी में ही बोल रहा था, शायद इसलिये कि मैं भी समझता जाऊँ। वह कह रहा था—"लिखा-पढ़ी कुछ नहीं है। महाजनी में लोग आठ-दस आने की चीज़ उधार लेने वाले से स्टांप नहीं लिखवाते।"

एकाएक जज ने मेरी ओर देखकर कहा—"बहीखाता है?"

मैंने यही मौक़ा अच्छा देखा। चट हाथ जोड़, सिर नवा कोमल स्वर में कहा—"हाँ धर्मावतार, खाता हूँ।"

जज ने अकचकाकर पूछा—"क्या खाते हो?"

मैंने और भी नम्र होकर उत्तर दिया—"वही, जो सरकार ने अभी कहा, यानी वही।"

मैं उस समय तक न जानता था कि 'बहीखाता' कोई एक

ही शब्द है। क्योंकि मैंने कभी दूकान का काम किया न था, न जानता था। मैं समझा, खाई जाने वाली चीज़ों की दूकान है, वही भी कोई खाने की चीज़ होगी। खाई जाती होगी। जज उसे खाता होगा, और इसीलिये मुझसे पूछता है कि यदि मैं भी खाता होऊँगा, तो मेरी दूकान में यह 'बही' ज़रूर होगी, और तब तो फिर इसके एक ही इशारे में पसेरियों मुफ़्त ही इसके घर पहुँच जायगी। मैं यह जानता था कि हाकिम को खुश करने के लिये सबसे अच्छा 'सुहलाना' है उसकी हाँ में हाँ मिलाना। इसीलिये मैंने ऐसा उत्तर दिया था।

पर मेरा जवाब सुन जज खिलखिलाकर गधे की तरह हँस पड़ा, और साथ ही हँस पड़ा मेरा वकील। कुछ देर बाद वकील ने मुझे बतलाया कि बहीखाता एक किताब होती है, जिसमें हिसाब लिखा जाता है तब मुझे अपनी ग़लती मालूम हुई। आह! उस वक़्त की मेरी हालत न पूछिए। इतना तो मैं पहली सोहाग-रात को अपनी बीबी के सामने भी न शरमाया था, जितनी झेंप उस समय मालूम हुई। खैरियत थी कि दूकान का नौकर वहाँ हाज़िर था। उसने अक़्लमंदी से काम लिया। चट बहीखाता—जो वह अपने साथ लाया था—निकालकर वकील के हाथ में दे दिया। वे दोनों भूत—जज और वकील—उसे देखने में लग गए, और मुझे अपनी झेंप मिटाने का मौक़ा मिल गया।

उस समय एकाएक ख़याल आया, ओहो, यह तो मेरा अपमान हुआ, और अपमान का बदला लेना मनुष्य का धर्म है। बस, यह विचार आते ही गुस्से का 'आह्वान' शुरू हुआ—"अवश्य ही इस खब्तुलहवास ने जान-बूझ कर मुझे बनाने के लिये ऐसा प्रश्न पूछा था। नहीं तो यह न पूछता कि हिसाब की किताब कहाँ है? रोजनामचा किधर है? उस हरामजादे बहीखाते का ही नाम क्यों लेता? ज़रूर यह इसकी शैतानी है। अच्छा चाचा जी, ठहरो, देखो। कैसे तुम्हारे कान हिलाता हूँ!" ज्यों-ज्यों मैं इस विषय पर सोचता गया त्यों-त्यों गुस्सा दूज के चाँद की तरह बढ़ता गया। आखिर जब सँभाले न सँभला, तब ज्वालामुखी की तरह फूट पड़ा। मैंने खौलते हुए कहा—"जनाब जज साहब, वकील साहब तथा अन्य महोदयगण! मुझे दुःख के साथ कहना पड़ता है कि मेरी जरा-सी ग़लती पर हँस कर आपने उचित नहीं किया। इससे सिर्फ़ आपकी, मेरे शब्दों में 'कुलकुल बुद्धि', पर आपके शब्दों में मोटी अक़्ल साबित होती है। आप लोग रोज ही ऐसी, बल्कि इससे भी बड़ी ग़लतियाँ करते हैं, पर अपनी ग़लती पर कभी नहीं हँसते. फिर एक भले आदमी की, एक विद्वान् की (यहाँ मैं अकड़ गया) ज़रा-सी बात पर इस तरह दाँत निपोर देना क्या आपको शोभा देता है? आप नहीं जानते, मुझ पर हँसकर आपने मुझे कितना नाराज़ कर लिया है। मैं कह देना चाहता हूँ कि इतना नाराज़ मैं कभी न

हुआ था, उस समय भी नहीं, जब मेरी सबसे छोटी लड़की ने मेरी मूँछ के बाल उखाड़ लिए थे। आपने बिच्छू का, मेरे शब्दों में 'हुनहुन' पर आपके शब्दों में मंत्र न जानते हुए साँप के बिल में हाथ डाला है। अब अगर साँप दुलत्ती झाड़-कर आपको काट खाय, तो उसका क्या दोष? पर घबराइए नहीं। मैं आपको काटना नहीं चाहता। इससे यह न समझिए कि मुझमें उतनी हिम्मत नहीं है, नहीं, बल्कि मेरा रहमदिल दिल काटने का दिल नहीं करता। अस्तु, अब आपके लिये बस एक ही रास्ता है। वह यह कि अपनी-अपनी हँसी वापस लेकर आप लोग शीघ्र ही मुझे खुश करिए, वर्ना मेरे गुस्से का डब्बा बम की तरह फटना ही चाहता है।" इतना कह, कुछ तो उत्तर की राह देखने के लिए और कुछ साँस लेने के लिये, मैं रुक गया, क्योंकि इतनी बातें मैं एक ही साँस में कह गया था, जिससे 'धमनी' बेचारी असढ़िया साँप की तरह फूल गई थी।

मेरा हाथी-स्वर सुन सब-जज तथा वकील ने बहीखाते पर से सिर हटा लिया, और मेरी ओर चकित होकर देखने लगे। मैं जब चुप हुआ, तब भी वे निरुत्तर थे, शायद उनके भोंड़े दिमाग़ में 'क्या करना चाहिए' के विचार ने टक्कर न मारी थी। हँसी के बाद ही इस अचानक धावे से घबराकर उन्होंने अपनी 'विट' ( बीट नहीं! ) 'लूज़' कर दी थी। दोनों बकरों की तरह दाढ़ी हिलाते मेरी तरफ़ देख रहे थे। मैंने इस मौक़े

को अपने 'फेवर' में समझा। अगर इस वक्त कुछ और घुड़की पड़ जाय, तो दोनों एकदम बदहवास हो, दौड़कर मेरे पाँव का आलिंगन करने लगेंगे, और फिर स्वर्गीय प्रेम से प्रेरित हो अपने भोथरे ओठों से चरण-चुम्बन की बौछार लगा देंगे। बस, हँसने का बदला मिल जायगा। इसलिये अबकी बार पैंतरा बदल और बी० एन० आर० के भोंपू की तरह चिल्लाकर कहना शुरू किया—

"वर्दी प्रेसिडेंट एंड जेंटिलमैन मुझे हर्ष है कि मेरे व्याख्यान की भूमिका आपने बड़ी शांति से सुनी। इतनी शांति से बच्चा अपनी स्यानी नानी की पुरानी कहानी भी नहीं सुनता। खैर, आज का विषय अधिक गूढ़ होने के कारण यदि आप लोग कुछ सिटपिटा गए हों, तो कोई ताज्जुब नहीं। मैं खुद पहले घबरा गया था कि क्या बोलूँ! पर अब तो मेरे दिमाग़ में किताबों की जिल्द-की-जिल्द खुल गई है। कहिए, तो जन्म-भर इसी तरह बोलता रहूँ, और बिलकुल न थकूँ। अस्तु—

"मैं पहले ही अर्ज कर चुका हूँ कि इस वक्त सख्त नाराज हो गया हूँ। इतना नाराज, जितना इस जन्म में तो क्या पूर्व जन्म में भी आपने किसी को न देखा होगा। पर मैं आप लोगों को विश्वास दिला देना चाहता हूँ कि इससे आपको जरा भी न डरना चाहिए। क्योंकि यह गुस्सा आप पर नहीं, केवल सभापति महोदय उर्फ़ सब-जज पर है, और इसीलिये मैं ऐसी चुन-चुनकर इन्हें गालियाँ देना चाहता हूँ

कि घबराकर एकदम बेहोश हो जायँ। फिर भी मैं अपना गुस्सा अभी रफ़ा कर सकता हूँ, क्योंकि अभी कुछ नहीं बिगड़ा, यानी अभी सेर में पोनी भी नहीं कती, यदि सभापति अपने अश्लील व्यवहार के लिये मुझसे माफ़ी माँग लें। यदि यह करने में श्रीमान् की हतक होती हो, तो उनका आचरण अश्लील था या नहीं, इस विषय पर मुझसे बहस कर लें (इस बार यहाँ फिर अकड़ गया)। यदि वह कुछ भी करने को तयार न हों, तो कह दें, मैं समझ कर तसल्ली कर लूँ कि यह मूर्ख हैं, परले सिरे के बेवकूफ़ हैं......।"

उसी समय टेबिल पर घूँसा पटककर जज ने कहा—"चुप रहो।" फिर वकील से बोला—"ऐसे कुन्द-ज़हन को आप अदालत में क्यों लाए?"

हाय, हाय जालिम ने सब किया-धरा मिट्टी कर दिया। मेरी बनी-बनाई दुनिया बिगाड़ दी। जिस शब्द को सुन मैं फैली हुई धोती की तरह काँपने लगता हूँ, उसी का नाम ले दिया। इससे तो यह अच्छा था कि चाकू से मेरा गला पंडित की तरह काट डालता। आह! मैं अपनी स्पीच के कितने ऊँचे आसमान पर था। एक के बाद एक विचार 'तलैया' की लहरों की तरह आ रहे थे। नई-युक्तियाँ सूझने ही वाली थीं, अभी अपना विधवा-विवाह पर नया तैयार किया सबक़ 'इंसर्ट' भी न कर पाया था कि क़ातिल ने पर काट लिए। खुदा उसे गारत करे या गारद में रक्खे।

पर यदि मुझे 'अन्नर्थ' करके ही वह दुष्ट बस करता, तो भी था। उसने चपरासी को बुला कर मुझे कोर्ट से बाहर निकलवा दिया। जरा भी रहम न किया कि मैं एक भला आदमी हूँ, विद्वान् हूँ।

दूसरे दिन मालूम हुआ, मैं मुकद्दमा हार गया।

× × ×

बस, इसी बात को लेकर वह मूसलचंद घंटों मेरा दिमाग खाता क्या रहा, धीरे-धीरे चाटता रहा, और मैं जो नहीं हूँ, वही मुझे सिद्ध करता रहा। पर जब बंदा उसकी बात सुनता हो। मैं अपने कान-कान का फाटक बंद कर परमानंद में लीन हो गया। उसकी मेरे शब्दों में 'बकवास', पर आपके शब्दों में दलीलें मैंने सुनी ही नहीं। वे मेरे बंद कानों के आस-पास अपने पंख फड़फड़ाती-फड़फड़ाती थक गईं, तब अन्यत्र उड़ गईं। इसलिये मैं अब भी अपने को कुंद-ज़ेहन नहीं मान सकता। यदि कोई मेरे विचार से सहमत न हो, तो आए, बहस कर ले।

# पंडित जी

जिस समय पंडितजी बैठते, उस समय यही मालूम होता कि मुग़ल बादशाहों के ज़माने का एक भारी उगालदान उलटा कर रख दिया गया है। उनकी भारी पेटी, धीरे-धीरे ऊपर को ओर पतला होता हुआ बदन, छाती की गोलाई और सबसे बढ़कर कटोरीदार चाँद, सब उलटे उगालदान के आकार की याद दिलाते थे। थे भी पंडितजी किसी उगालदान से कम नहीं। जहाँ बैठते, वहाँ थूक का ढेर लगा देते थे।

शरीर के समान पंडितजी का नाम भी बेढब था, 'घर-घूमन'। मालूम नहीं, क्या सोचकर मा-बाप ने उन्हें यह नाम दिया था, क्योंकि न तो उनका घर ही 'कोरेंथियन थियटर' के स्टेज की तरह घूमता था, और न वही मोटाई के मारे घर-घर घूम सकते थे। तिथि-त्योहारों के अतिरिक्त अपने स्थान से उठते भी उन्हें लोगों ने कभी न देखा था। काठ के एक खूब मोटे तख्ते पर ध्रुव की तरह अचल बैठे रहते, अन्य तारों की तरह सारा गाँव उनकी परिक्रमा करता था। गाँव में ऐसा कोई घर न था, जिसके लोग पंडितजी के घर 'घूमने' न आते हों। शायद इसलिये उनका नाम

घरघूमन था। कुछ भी हो, उनका नाम घरघूमन ही था; पर लोग उनके डील-डौल के कारण उन्हें 'गलगल पंडित' कहा करते थे। हालांकि कुछ नटखटों [illegible] को छोड़कर पंडितजी के सामने उनका यह नाम कोई जबान पर न लाता था। उनके मुँह पर उनका नाम था 'पंडितजी महाराज'।

पं० घरघूमन जी शरीर भारी भरकम होने के कारण बहुत चल फिर न सकते थे, पर इससे उनके काम में कोई हर्ज न होता। शादी वग़ैरह बड़े कामों को छोड़कर बाकी छोटे-मोटे काम लोग पंडितजी के घर पर ही आकर करवा लेते थे। यहाँ तक कि कभी-कभी जनेऊ का मंडप भी पंडितजी के मकान पर ही गड़ता, और लड़के का बाप संबंधियों-समेत आकर 'पंडितजी महाराज' से अपने पुत्र को गुरु-दीक्षा दिलाता। बाहर न आने-जाने का कारण पंडितजी अपनी मोटाई कभी न बतलाते थे। मोटेपन का तो जिक्र उठाते उन्हें कभी किसी ने न सुना, मानो वह अपने हाथी-डील-डौल पर सोच ही न सकते हों। जैसे एक 'बेतछाप' आदमी अपनी मोटाई के बारे में सोच नहीं सकता। पंडितजी का कहना था कि उनके पूजा-पाठ में विघ्न पड़ता है, इसलिये वह बाहर नहीं जाते। जब कोई यजमान किसी काम के लिये पंडितजी को बुलाने आता, तो आप फौरन फरमाते—"देखो भाई, तुम्हारे यहाँ जाने-आने में मेरा बहुत-सा समय नष्ट हो

जायगा। उतने काल में मैं 'विष्णुसहस्रनाम' के दो पाठ कर लूँगा क्यों व्यर्थ ईश्वर-भजन में बाधा देकर पाप मोल लोगे! तुम पूजा की सब सामग्री वही मँगवा लो, मैं पूजा करा देता हूं। जो फल तुम्हें वहाँ मिलेगा, सो यहाँ। शायद यहाँ कुछ ज्यादा मिल जाय।" यजमान भक्ति से तिलमिला उठता। तुरंत सब सामान वहीं मँगवा कर 'पाप-कर्म' से मुक्ति ले लेता। पंडितजी की इस 'सार्वभौमिकता' का एक कारण यह भी था कि उस गाँव में दूसरा कोई पंडित न था, और आस-पास के गांव दूर-दूर थे। इसलिये घरघूमनजी के यहां कभी यजमानों का टोटा न रहता।

इसके अतिरिक्त आमदनी के और भी जरिए थे। क्योंकि पंडित मोटी लोमड़ी की तरह मोटे चालाक थे। अपनी चालाकी से भी वह कुछ न कुछ लोगों से झटक भागते थे। एक बार का हाल सुना लिए।

एक दिन यजमान 'गणेश-पूजन' की आज्ञा ले पंडितजी के यहाँ उसका सामान ले आया। सामान रखकर वह चला गया और कह गया कि स्नान करके आता हूँ। पर कुछ देर बाद ही लौटकर वह पूजा-सामग्री में से उठा ले गया। पंडितजी ने देखकर भी उस पर ध्यान न दिया। कुछ देर बाद यजमान फिर आया, और पूजा की थाली उठा ले जाने लगा। अब पंडितजी के कान खड़े हुए। फौरन माला बंद कर बोले—"क्यों, कहां ले जा रहे हो?"

यजमान बोला—"महाराज, घर पर ही मन ठीक हो गया हूं। मेरे मामा के गाँव के एक पंडित आ गए हैं। उनसे पूजा करवा लूंगा। मैंने कहा, क्या आपके पूजा पाठ में विघ्न डालूं।"

पंडितजी ने सुना, तो धोती के बाहर हो गए। बदन में आग लग गई। शिकार हाथ से निकला जा रहा था, रुक कर उल्टा उगालदान ऊपर उचका दिया ( पानी नहीं हो गए )। अगर तरत मजबूत और ऐसी बेतकल्लुफी का आदी न होता, तो जरूर टूट जाता। मोटाई के मारे हांफते हुए बोले "दुष्ट, तुम मेरा अपमान कर रहे हो! ब्राह्मण का अपमान! ब्रह्मा के मुख से पैदा हुए ब्राह्मण का अपमान!! एक सच्चे ब्राह्मण का अपमान!!!" दरअसल पंडितजी ने 'ब्राह्मन' कहा था, खूबसूरती के लिये हमने 'ब्राह्मण' लिखा है। हां, तो पंडित जी कहते गए—"मैं तुम्हें शाप ( शराप ) दूंगा। तुम्हारा सारा घर नष्ट हो जायगा।" थलथल जी हांफना भी थलथल हो चला।

यजमान की तो सिट्टी-पिट्टी भूल गई। हाथसे पूजा की थाली फर्श पर गिर पड़ी। अक्षत, चंदन, फूल-पान इत्यादि गलो-चक बिखर गए। सुपारियां पंडितजी की चरण,वंदना करने चल पड़ीं। लेकिन पंडितजी का पारा पार कर गया था। चिल्लाकर बोले—"ब्राह्मण ( ब्राह्मन ) का अपमान किया है नीच, सच्चे ब्राह्मण ( ब्राह्मन ) का। ले।" कहकर

'शराप' देने के लिये पानी का लोटा उठाने लगे। यजमान का रहा-सहा माद्दा भी पानी हो गया। चट पंडित जी के पैरों पर गिर पड़ा। उनके पैरों को इस तरह छाती से चिपका लिया, जैसे मा बच्चे को चिपका लेती है। गिड़गिड़ाता हुआ बोला—"क्षमा करो पंडितजी महाराज, क्षमा करो। मैंने कभी इस विचार से यह काम न किया था। सिर्फ आपको कष्ट न हो, इसलिये ऐसा कर रहा था। यदि आप नाराज होते हैं, तो उस पंडित को अभी मार भगाता हूँ। दया कीजिए पंडितजी महाराज, शाप मत दीजिए। आप महात्मा हैं, भगवान् के भारी भक्त हैं, आपका शाप लग जायगा। मर जाऊँगा। दया कीजिए भगवन् दया कीजिए।"

अपनी महिमा-गान सुन पंडितजी मन-ही-मन धुनी कपास की तरह फूल उठे। पर ऊपर से उसी तरह गुंडी झाड़ दी मानो शाप के डर से दया भी उनके पास न फटक सकती थी। बफरते हुए बोले—"अपराध बहुत भारी है, क्षमा नहीं हो सकता।"

सारे संसार की दीनता उस यजमान पर टूट पड़ी। खूब गिड़गिड़ाता हुआ बोला—नहीं" पंडितजी महाराज, अनजानते का अपराध है, क्षमा कर दीजिए। जो प्रायश्चित्त कहिए, सो करने को दास तैयार है।"

अंत में बड़ी सिरधुन के बाद, एक गोदान का प्रायश्चित्त पंडितजी ने कोई पोथी खोलकर बतला दिया। ग़रीब यजमान

निकलते भिभकते थे। इसीलिये उनका उच्चारण बिगड़ जाता था।

ख़ैर, यथार्थ ज्ञान कितना भी हो, पंडित जी की धाक उस गाँव में सब पर थी। भारी पंडित थे, ईश्वर-भक्त थे, महात्मा थे, शाप दे सकते थे, धाक क्यों न होती? गाँव में जिसके यहाँ से जो चाहते, सो मँगवा लेते। कोई नहीं न कर सकता था। लोग स्वयं पंडित जी को प्रसन्न करने और उनके शाप के भय से बचने के लिये उनके यहाँ 'डालियाँ' भेजते थे, जैसे हम और आप ज़िले के हाकिम के यहाँ भेजते हैं। इतना आदर और डर पंडित जी का था।

शरीर और नाम की तरह पंडित जी का स्वभाव भी बेढब था। एक दिन उन्होंने एक आदमी से कहा—"जा तो रे, उस भड़भूँजे से थोड़ी लकड़ियाँ माँग ला। आज घर में लकड़ियाँ नहीं है। सूरज नहाकर आता होगा, रोटी कैसे पकावेगा?" सूरज एक ब्राह्मण का लड़का था, जो पंडितजी का नया शिष्य तथा पुराना पाचक था।

आदमी चला गया, पर कुछ देर बाद ही खाली हाथ लौट आया। उस समय पंडित जी पूजा कर रहे थे। आँख की कोर से उन्होंने उसे खाली हाथ लौटते देख लिया। 'जाप' करते-करते बोले—"क्यों, तुमसे कहा था न, भड़भूँजे से लड़की माँग ला।" कहना चाहते थे 'लकड़ी', पर ध्यान पूजा पर होने के कारण मुँह से 'लड़की' निकल गया।

आदमी ने उनकी ग़लती ठीक करते हुए कहा—"महाराज, आपने लड़की नहीं, लकड़ी के लिये कहा था, सो उसके यहाँ अभी नहीं हैं। कहता था, थोड़ी देर में लाकर स्वयँ रख जाऊँगा।"

पँडितजी का स्वभाव था कि अपनी बात किसी को काटने नहीं देते थे। वह जो कुछ कहते, वह मानो ब्रह्मा की लकीर थी, जो काटी या मेटी न जा सकती थी। उनमें यह गुण था कि जो मुहँ से निकल जाता, उसका समर्थन अंत तक करते थे, चाहे वह ग़लत ही क्यों न हो। यदि आम को इमली कह बैठते, तो जान जाते फिर कभी उसे आम न मानते। हर तरह के तर्क से उसे इमली ही सिद्ध करते थे। उस आदमी की बात सुन बिगड़ पड़े। बोले—"झूठा कहीं का, मैंने लड़की कहा था, तूने ग़लती से लकड़ी सुन लिया होगा। कान की दवा कर। मुझे झूठा बनाता है।?"

आदमी को पूरा विश्वास था कि कुत्ते के कानों की तरह उसके कान धोखा नहीं खा सकते थे। यह भी निश्चय था कि पंडित जी ने लकड़ी के लिये कहा था। बोला—"नहीं महाराज, मैं आपको झूठा नहीं बनाता। पर क्षमा कीजिए आपने लकड़ी के लिये ही कहा था।"

सुनते ही पंडित जी का गुस्सा जँगली भैंसे की तरह बिगड़ खड़ा हुआ। हाँफते हुए बोले—"चुप चांडाल कहीं का, लड़की को लकड़ी बनाए देता है? 'पानिनी' महराज होते, तो

तेरा खून पी जाते। इतनी भारी ग़लती ! और उस पर मुझे झूठा सिद्ध करना चाहता है ! खुद कामचोर वहाँ तक गया नहीं कहता है, आपने लड़की के लिये नहीं कहा था। फिर क्या तेरे सिर के लिये कहा था रे दुष्ट ! लकड़ियाँ मँगा क, क्या घर में मुझे आग लगानी थी ? घर तो वैसे ही लकड़ी का बना है, और लकड़ी क्या करता ?"

उस आदमी ने देखा, बात बिगड़ गई, चट हाथ जोड़ कर बोला—"धर्मावतार आप ठीक कहते हैं। मैं कुछ ऊँचा सुनता हूँ, इसलिये ग़लत समझ गया था। क्षमा कीजिए, दीनानाथ, अभी लड़की लाए देता हूँ।" कहकर जब तक पंडित जी कुछ कहें या उसे रोकें, तब तक वह बाहर निकल गया, और दूसरे ही क्षण एक मैली कुचैली बारह साल की लड़की को लाकर पंडितजी के आँगन में खड़ा कर दिया। बोला—"महराज, भड़भूँजे की लड़की माँग लाया। यह है, लीजिए।"

अब लड़की को पंडितजी क्या करते ? पर वह चूकने वाले आसामी न थे। झट पूजा के लिये थोड़ा स्थान उससे लिपवा मारा। उस दिन पाचक सूरज को रसोई बनाने में जो कष्ट हुआ, वह वही बेचारा कह सकता है।

प० घरघूमन पांडे की उम्र के बारे में बड़े-बड़े मैंतव्य थे यह प्रश्न बड़ा कंट्रोवर्शियल था। जितने मुहँ थे, उतनी बातें थीं। कोई उनकी उम्र ठीक-ठीक न बतला सकता था। स्वयं

फ़ायदा, चलकर पंडितजी से ही न पूछ लो।" सबको यह बात जँच गई। लिए-दिए पंडितजी के पास जा धमके।

प्रश्न सुनकर पंडितजी मुस्किराए। बोले—"अच्छा, तो तुम लोग आज मेरी उम्र नापने आए हो?" फिर पहले की ओर देखकर पूछा—"तुम कितनी सोचते हो?"

उसने कहा—"कम-से-कम साठ साल।"

दूसरे से पूछा—"और तुम?"

उसने कहा—"तीस साल।"

तीसरा बोला—"मैं बहुत वर्षों से आपको ऐसा ही देख रहा हूँ। मुझे तो आप सत्तर साल के मालूम होते हैं।"

चौथे ने कहा—"पैंतालीस।"

पंडितजी ने कहा—"अच्छा, चारों संख्याओं को जोड़ दो।"

एक ने बड़ी देर तक बड़बड़ाकर कहा—"दो सौ पाँच।"

"उसमें चार का भाग दे दो। कितना आया?"

हिसाबिए ने कहा—"५१ साल ३ महीने।"

पंडितजी ने मुस्किराकर सिर हिलाते हुए कहा—"बस, यही मेरी उम्र है।"

पता नहीं, पूछने वालों का समाधान हुआ या नहीं। पर वे सब बिना कुछ कहे उठ गए थे, यह हमें मालूम है।

एक ताज्जुब की बात पं० घरघूमन में यह थी कि उनकी ख़ूराक उनके शरीर-जैसी मोटी न थी। थोड़ा ही खाते थे। बदन देखकर तो कह पड़ता था कि इन्हें कम-से-कम नौ सेर

'रातिब' सुबह और नौ सेर शाम को चाहिए, पर पंडितजी का काम एक तिहाई से ही चल जाता था। लोगों को आश्चर्य होता था कि इतना सूक्ष्म आहार खाकर वह ज़िंदा कैसे रहते हैं !

कुछ भी हो, पर पंडितजी थे बड़े धार्मिक। कभी किसी गर्भवती स्त्री का मुँह न देखते थे ! यदि धोखे से कभी सामने पड़ जाते, तो उस पाप का कठोर प्रायश्चित्त करते थे। उनके बाहर न जाने-आने का एक यह कारण भी था। एक दिन सुबह कहीं जाने के लिये बेचारे काँख-कूँखकर और आड़े-तिरछे होकर चौखट के बाहर निकले, और बरसाती मेंढक की तरह फुदक-फुदककर एक ओर चल पड़े। अभी कुछ दूर ही गए थे कि सामने से एक स्त्री सिर पर पानी से भरा घड़ा रक्खे आती दिखाई दी। इस शुभ शकुन को देख पंडितजी भावी लाभ सोचकर मन-ही-मन प्रसन्नता से पिघल उठे। पर दूसरे ही क्षण ज्यों ही उन्होंने ग़ौर से देखा, तो उनकी प्रसन्नता भाग खड़ी हुई, जैसे बिल्ली को देखकर चूहा फ़रार हो जाता है। स्त्री गर्भवती थी। पंडितजी बड़े हताश हुए। घड़े का शकुन इस अपशकुन के आगे कोई क़ीमत न रखता था, जैसे हाकिम के होते चपरासी के वचन का कोई मूल्य नहीं। बेचारे अनमने हो और बड़ी कठिनाई से उलटे घूमकर वापस चल पड़े। इसी समय उस ओर से एक गर्भिणी तालाब से नहाकर आती दिखाई दी। पंडितजी खिजला उठे। यदि कोई

तीसरा रास्ता होता, और पँडितजी भाग सकते, तो निश्चय जानिए, वह हवा हो जाते, पर लाचार थे, कहाँ जायँ। आख़िर दोनों हाथों से मुँह ढाँपकर और गली के एक किनारे की ओर घूमकर एक छोटे पहाड़ की तरह वहीं बैठ गए।

शहर की अपेक्षा गाँव की स्त्रियां शायद अधिक लज्जाशीला होती हैं। घड़ेवाली ने पंडितजी को बैठते देखा, तो समझी, पेशाब करने बैठे हैं। वह बेचारी मुँह फेर वहीं खड़ी हो गई। लज्जा के जो भाव थे, सो तो थे ही, साथ ही लाचारी के भाव भी अवश्य मिले हुए थे। क्योंकि पंडितजी के हाथी के समान बैठ जाने से गाँव की तंग गली का अधिक हिस्सा उनके नीचे दब गया था। जितना रास्ता बचा था, उसमें से भरा घड़ा लिए निकल जाना सरल न था। इसलिये बेचारी को खड़ा होना ही पड़ा। ख़ैर, घड़े वाली खड़ी हो गई। सोचा, पंडितजी उठें, तो जाऊँ। नहाकर आनेवाली स्त्री ने घड़ेवाली को ठहरते देखा, तो वह भी उसी आशय से पीठ देकर खड़ी हो गई।

लगभग दस मिनट तक पंडितजी आँखें बंद किए बैठे रहे। उन्होंने सोचा, अब तक वे देवियाँ निकल गई होंगी। मुँह पर से हाथ हटाकर उठने लगे, तो घड़ेवाली पर नज़र पड़ गई। 'हत्तेरे की' कहकर फिर दबक रहे।

खड़े-खड़े घड़ेवाली की गरदन दर्द करने लगी। उसने घबराकर पंडितजी की ओर कनखियों से देखा, तो भरे बोरे की तरह वह वहीं धरे हुए थे। उसे कुछ शक हुआ। उसने उस

दूसरी स्त्री की ओर देखा, तो वह भी सशंकित दृष्टि से पंडितजी को निहार रही थी। दोनों की आँखें चार हुईं। दोनों घूमकर पंडितजी की ओर चल पड़ीं। घड़े वाली ने पास पहुँचकर धीमे स्वर में पुकारा—"पंडितजी महाराज!"

पंडितजी मोटे खंभे की तरह टस से मस न हुए। उस समय वह मन-ही-मन झुँझला रहे थे कि किस 'कुसाइत' में घर से निकले, जो इस बला में फँस गए। बैठे-बैठे बेचारों का बदन टूटने लगा। पालथी मारकर बैठे होते तो भी कोई बात थी।

घड़ेवाली ने अपनी संगिनी की ओर देखकर दबी जबान से कहा—"गश खा गए?" दूसरी स्त्री किसी घर की बहू थी, मुँह से न बोली, शंकित नेत्रों से सिर हिलाकर उसने उसके प्रश्न का उत्तर दिया। घड़ेवाली ने कहा—"जल्दी जा, घर में बोल।" और दोनों झपटती हुई अपने घरों की ओर भागीं।

दूसरे ही क्षण गाँव-भर में कोहराम मच गया कि अचभल पंडित कहीं जा रहे थे कि गश खा गए। रास्ते में पड़े हैं। जो लोग 'गश खाने' का अर्थ नहीं समझते थे, उन्होंने बेपरवाही से कहा—"तो क्याहुआ, भूखे होंगे, गश खा लिया होगा। इसमें शोर करने की कौन-सी बात है।" जो समझदार थे, वे अपना काम छोड़ बताए हुए स्थान पर इस तरह टूट पड़े, जैसे टिड्डी-दल धान के खेत पर टूटता है। पर पंडितजी वहाँ कहाँ थे? वह तो स्त्रियों के हटते ही जी छोड़ कर घर की ओर भाग खड़े हुए थे। जो लोग अब भी 'गश

खाने' का मतलब न समझे थे, सिर्फ इसलिये दौड़ पड़े थे कि देखें, दूसरे लोग क्यों भागे जा रहे हैं, उन्होंने मुँह बनाकर कहा—"खाकर भाग गया देखो। कहा था न, क्यों व्यर्थ परेशान होते हो।"

उस दिन प्रायश्चित्त में पंडितजी ने चौबीस घंटे का उपवास ठोंक दिया।

शायद इसी डर से पंडितजी ने अपना विवाह नहीं किया था।

पंडितजी के गुण-गान से गद्गद हो उनके कपड़ों के बारे में कुछ कहना हम भूले जा रहे हैं। पंडितजी जब घर में रहते, तब बदन के सारे झरोखे और खिड़कियाँ खोलकर बैठते थे, अर्थात् नंगे बदन रहते थे। जब बाहर निकलते, तब एक अचकन पहनते थे, जो पूरी तौर से 'चपकन' थी। ऐसी चिपककर बैठती थी कि उँगली डालने की संद भी न रहती। यहाँ तक कि अचकन के अंदर से जब थलथलजी को जनेऊ निकालना पड़ता, तो पसीने की बूँदें उनके माथे पर झलक पड़तीं। सारांश यह कि उनका अंगा बहुत चुस्त था। मालूम नहीं, कितनी कठिनाई से पंडितजी उसे पहनते थे, और उतारते वक्त तो राम-राम, हाथी को सुनार की पोंगरी में से निकलना पड़ता था! इस पहनने-उतारने के डर के मारे भी पंडितजी का बाहर जाना-आना सीमित हो गया था। अंगे की तंगी का पूरा-पूरा बयान करना तो हमारी ताक़त के बाहर

की बात है। आप इतने से ही समझ जाइए कि एक बार अपने दुर्भाग्य से एक कीड़ा पंडितजी की अचकन के अंदर घुस गया। जब पंडितजी ने कपड़े उतारे, तब कीड़े के स्थान पर थोड़ी धूल मिली।

पर यह बात हरगिज़ न थी कि उनके कपड़े पुराने होने के कारण तंग होते थे, उनके लिये नए-पुराने सब कपड़े बराबर थे। शायद नए कपड़े भी उनका आकार देख डर के मारे सिकुड़ जाते थे, या शायद दर्जी हमेशा नाप भूल जाता था, या पंडितजी का शरीर ही शायद चाँद की तरह दिन-दिन तरक्क़ी पर था। कारण कुछ भी हो, यह बिलकुल सच है कि नया-से-नया कपड़ा, बिलकुल ताज़े थान-भर का बना हुआ अंगा भी उनको छोटा पड़ जाता था। बेचारे परेशान थे, क्या करें। घबराकर उन्होंने कहीं जाना-आना ही छोड़ दिया। तभी बाहर निकलते, जब प्राण संकट में पड़ जाते। वह भी कभी-कभी नंगे बदन ही ढुलकते चल देते।

पंडितजी धुरंधर विद्वान् थे, यह तो हम पहले ही कह चुके हैं। उनकी विद्वत्ता पर तब और श्रद्धा होती, जब वह मिनटों, सेकेंडों और सेकेंड-विभागों में मुहूर्त बतलाते थे। उनके बतलाए हुए मुहूर्त में चार संख्याएँ होती थीं—एक घंटे की, दूसरी मिनटों की, तीसरी सेकंडों की और चौथी सेकेंड-विभागों की। उदाहरण के लिये १२-१०-४५ उनका एक मुहूर्त था।

पंडितजी का कहना था कि उनके बतलाए मुहूर्त के ठीक समय पर यदि लोग शादी-विवाह करें, तो कभी कोई राँड़ न हो, न किसी को पत्नी-शोक उठाना पड़े। लोग मुहूर्त की ठीक 'साइत' चूक जाते हैं, इसीलिये ये सब अनर्थ होते हैं। बात थी भी ठीक। विवाह बंदूक का चलाना तो है नहीं, जो कोई 'फर्स्ट प्रेशर' लेकर उँगली लिबलिबी पर रक्खे रहे, और घड़ी का काँटा यथास्थान पहुँचते ही घोड़ा छोड़ दे। शादी शादी है। बहुत से कामों का गोरख-धंधा होने के कारण मुहूर्त चूक जाना बिलकुल मुमकिन है। और इसलिए, पंडित जी के अनुसार, लोगों को गार्हस्थ्य जीवन में दुख का पहाड़ पेलना पड़ता था। अपनी बात की पुष्टि के लिये पंडितजी मुल्लू काछी का उदाहरण देते थे। कहते—"देखो, मुल्लू साठ साल का और उसकी घरवाली पचपन साल की है। दोनो अभी तक सुख से समय काट रहे हैं। एक उन्होंने ही मेरा मुहूर्त बिलकुल ठीक-ठीक माना था। देखो, दोनो में से किसी का सिर तक नहीं दुखता। चैन कर रहे हैं।" पर मुल्लू कितना चैन कर रहा था, यह ईश्वर ही जानता था। उस बुढ़ौती में भी बेचारे के सिर पर दिन में एक-न-एक बार झाड़ू पड़ ही जाती थी।

पंडितजी की आमदनी के बारे में हम कुछ कह चुके हैं, पर उतने से ही थलथलजी का थलथल पेट न भरता था। और भी नुस्खे काम में लाते थे। उनका नियम था कि साल

में एक बार कोई-न-कोई कथा अवश्य कहते थे। कभी श्रीमद्भागवत, कभी रामायण, कभी महाभारत। कथा का समय वह होता, जब किसान फसल काटकर घर ले आते। पूछने पर पंडितजी कहते थे—"यही उपयुक्त समय है, क्योंकि लोग इस समय काम से छुट्टी पा जाते हैं, कहीं जाने-आने के लिये उनके पास गठरियों समय रहता है।" यह ठीक था पर पंडितजी का सच्चा उद्देश्य कुछ दूसरा ही था। उस समय किसानों का घर भरा रहता, और कथा में वे अच्छी मोटी रक़म चढ़ा सकते थे। इन कथाओं से पंडितजी को अच्छा खासा लाभ हो जाता था, क्योंकि उनकी धाक सिर्फ़ उस गाँव में ही नहीं, इलाक़े-भर में थी। अतः आस-पास के बहुत-से गाँवों के लोग कथा सुनने आते। आदमियों का ठट्ठ लग जाता। उनमें से प्रत्येक मनुष्य कुछ-न-कुछ पंडितजी की धर्म-पोथी पर अवश्य चढ़ाता था। इस तरह थलथलजी की चाँदी कट जाती। उन कथा के दिनों में पंडितजी का वह गर्भवती स्त्रीवाला पाप कथामृत में घुलकर पुण्य हो जाता था, क्योंकि असली आमदनी तो स्त्रियों से ही होती थी न।

पंडितजी की एक कथा का हाल सुनाकर हम इनकी चर्चा खत्म करते हैं।

एक बार पं० वरघूमनजी महाभारत की कथा पर बैठे। खबर पाते ही आस-पास से भक्तों के झुंड चींटियों के झुंड की तरह आने लगे। पंडितजी के घर का आँगन स्त्री-पुरुषों

से खचाखच भरा था। घरघूमन जी जो कि गर्भिणी स्त्रियों को अपनी आँखों के सामने देखना महा पाप समझते थे, वहाँ गर्भिणी स्त्रियाँ पंडित जी के आँगन में सबसे आगे पंडित जी के निकट बैठी थीं। जिनको देख पंडित जी खुशी से फूला न समाते थे। वास्तव में ठीक ही तो था क्योंकि इस समय वही पाप पंडित जी की आमदनी की शकल में था। इस समय पंडित उनसे कैसे घृणा कर सकते थे।

खैर पंडित जी के बारे में जो भी कुछ लिखा है उससे आप अनुभव कर सकते हैं कि वे कितने विद्वान् थे। इन बातों को छोड़कर हम पंडित के बारे में भी कुछ लिखना चाहते हैं—पंडित जी जो कि बड़े तंग कपड़े पहनते थे, इसलिए हर समय कपड़े पहनने व उतारने की दिक्कत से नंगे रहते थे। क्योंकि आपका शरीर बड़ा मोटा-ताजा तो जरूर था, लेकिन कष्ट नहीं उठा सकता था। आज कथा के समय पंडित पाँचों वस्त्रों में अपने सिंहासन पर डटे थे। पंडित के माथे पर चन्दन की कमी न थी। मालूम होता था कि पंडित जी को चन्दन लगाते समय किसी और तरफ ध्यान ही न था और वे चन्दन में ही बेसुध हो गये। क्योंकि चन्दन का हाथ उनके कंठ तथा कानों तक भी पहुँच गया था। एक अच्छे चौड़े तखत पर जिस पर छः आदमी आराम से बैठ सकते थे। अकेले ही डटे थे लेकिन जब वह हिलते थे तो तखत चूं—चूं की आवाज देता था ऐसा।

मालूम होता था कि तख़्त में उनके वजन को सह लेने की हिम्मत न थी ?

पंडित जी का जिस्म इतना भारा था कि तख़्त तो हिल ही जाता था लेकिन फैलाव भी इतना था कि पोथी रखने के लिए भी जगह न थी ।

कथा आरंभ करने से पहिले पंडित जी ने आमद कामौक़ा देख, बैठे यजमानों से बड़े ऊँचे स्वर में कहा—भाइयो, यह भगवान की कथा है । और भगवान् के नाम में पापी आदमियों तथा गर्भिणी स्त्रियों का सम्मिलित होना घोर पाप है । और भगवान् की कथा में से उठ कर जाना तो उससे भी अधिक पाप है । इस लिए मैं उन भाइयों से निवेदन करता हूँ कि कथा होने से पहिले वो दक्षिणा देकर अपनी शुद्धि जरूर करालें ।

पंडित जी की यह बात सुनकर स्त्रियों और पुरुषों में बड़ी घबराहट सी फैल गई । और पंडितजी की आमदनी का ठिकाना न रहा, उसी समय यजमानों ने महीने भर के लिए पंडित जी को जिमाने का न्योता दे दिया। इस मोटी आमदनी के अलावा कथा में भी उनको जबरदस्त आमदनी हुई । उनकी जिंदगी में ऐसे मौक़े बहुत से आए लेकिन आप इसी से अन्दाज़ा लगा सकते हैं कि कैसे थे वह विद्वान पंडित जी ।

❀ ❀ ❀

आख़िर एक दिन पंडितजी की ख्याति इलाके से प्रदेश, प्रदेश से हिंदुस्थान और हिंदुस्थान से चहल-क़दमी करती हुई

'स्वर्गिस्तान' पहुंच गई। उनके गुणों से मोहित हो एक दिन यमराज चुपचाप सोते समय उनकी आत्मा चुराकर भाग खड़े हुए।

गाँववाले कहते हैं, जब पंडितजी मरे, तब चार मुर्दों के सोने लायक अरथी बनाई गई थी, चुनिंदा-चुनिंदा चौदह आदमियों ने उसे उठाया, और आस-पास के चौबीस गांवों के आदमियों से घिरे हुए 'चरमर' नदी पर उसे ले गये। उसी नदी की चमचमाती हुई रेती पर पंडितजी का चाबीस मन लकड़ी, चौदह मन घी और चार मन मिटटी के तेल से अग्नि-संस्कार किया गया।

इस तरह पंडितजी तो चलते हुए, अब केवल उनकी चर्चा रह गई।

---

## मामा

( १ )

या खुदा ! अगर फिर कभी आदमी बनाकर दुनिया में भेजना तो कानपुर-जिले में किसी का मामा न बनाना । मुझे बैल-गाड़ी, घोड़ा-गाड़ी, मोटर-साइकिल, सब बनना मंजूर है, बस एक मामा बनना ही नहीं । कमबख्त मामा क्या है, मजाक की पुड़िया है । जिसे देखिए, वही दिल्लगी करता है । बहन के पति, देवर, जेठ तो साले के नाते उसे अपनी मजाक की थाती समझते ही हैं, टोले-मुहल्ले और गाँव-शहरवाले भी उसे अपना साला ही समझ बैठते हैं । बची-खुची इज्जत भांजे कहलानेवाले लड़कों के हाथों अपनी छीछालेदर करवाती है । अगर सिर्फ बहन के ही दो-चार लड़कों का सामना करना पड़े, तो किसी तरह रो-धोकर सब सह लिया जाय, पर जब शहर-भर की वानर-सेना उसे अपना मामा समझ पैसा मांगने और चुटकियां काटने लगती है, तब तो मारे बेकली के आँख से आँसू भी नहीं निकलते । पता नहीं, मामा किन चीजों का 'कंपाउंड' है, जो उसे देखते ही लोगों को मजाक के नए-नए पहलू सूझने लगते हैं । क्या कभी कोई वैज्ञानिक इस बात की खोज कर सकेगा ?

मालूम नहीं, पूर्व-जन्म के किन पापों के कारण मुझे भी मामा होने का दुर्भाग्य प्राप्त हुआ। मुसीबत तो यह है कि अपने पाँच भांजों के लिये मैं अकेला ही मामा हूँ। आह! मैं तरसता रह गया कि एक भी मेरे भाई होता, जो इस मुसीबत में हाथ बटाता, पर भगवान् को मेरी दुर्दशा पर दया न आई। इसलिये आए दिन मुझे ही झख मारना पड़ता है। कभी-कभी तो इच्छा होती है कि कानपुर की तरफ एकदम पीठ फेर दूँ, और शतरंज के प्यादे की तरह फिर कभी घूमकर भी उस ओर न देखूँ। पर बुरा हो इस बहन की मुहब्बत का, जबरन खींच ले जाती है, और वहाँ जाते ही शामत का सामना करना पड़ता है। सब भांजे चींटे की तरह आ चिमटते हैं, कोई जूता उठाकर भाग खड़ा होता है, कोई टोपी का फुटबाल खेलने लगता है, और कोई, जब कुछ न मिला, तो शरीर ही नोचने लगता है। तीन तो इस तरह फौरन् काम में लग जाते हैं, चौथा मेरे हाथ से मिठाई की टोकरी ले भीतर रखने चला जाता है, और पाँचवाँ मा की गोद से ही मुँह बनाकर मुझे चिढ़ाने और हंसने लगता है। ये लड़के भी कमबख्त बड़े बेढब हैं। मिठाई पर नजर तब डालते हैं, जब मैं सामने नहीं होता। गोया मैं मिठाई से भी ज्यादा मीठा हूँ।

मामा होने के कारण जो-जो मुसीबत मुझे झेलनी पड़ी, उन्हें याद करके ही मैं सिहर उठता हूँ। डर है कि लिखते-लिखते कहीं

रो न पड़ूँ ! पर करूँ क्या, बग़ैर लिखे आप उनसे वाक़िफ़ कैसे होंगे, इसलिये लिखना ही पड़ता है।

( २ )

एक दिन अपनी बहन के घर दोपहर का खाना खाकर मैं सो रहा था। गरमी के दिन थे। गरमी ऐसी कड़ी पड़ रही थी कि शरीर पसीने का 'वाटरवर्क्स' बन गया था। सारा बदन गीला नमक हो रहा था, पर मुझे इसकी परवा न थी। मैं अपनी नींद में मस्त था। मेरा स्वभाव है कि जब मैं सोता हूँ, तब हमेशा घोड़े बेचकर सोता हूँ। फिर इस पापी संसार का ध्यान ज़रा भी नहीं रहता। पता नहीं, कितनी देर तक मैं उस दिन सोता रहा। एकाएक नींद हलकी हो गई, और मैं सपना देखने लगा। मैंने देखा, मिस एमी जॉनसन आकर मेरे पैताने खड़ी हो गई। मुझे अपनी आँखों पर विश्वास न हुआ। पर जब बड़े मीठे—जैसा शहतूत मीठा होता है, वैसे—स्वर में मिस ने मिनमिनाया—"कहिए, कैसे लेटे हैं ?" तब मैं सशय में न रह सका। उठकर स्वागत करता हुआ बोला—"यों ही आराम कर रहा हूँ। कहिए, आपने कैसे कष्ट किया ?"

मिस जॉनसन ने आँख मटकाकर कहा—"मैंने सोचा, आज आपको अपने हवाई जहाज़ पर आकाश की सैर कराऊँ। चलिए जहाज़ दरवाज़े पर खड़ा है।"

ऐसा मौक़ा मैं कब मिस कर सकता था, चट मिस के साथ हो लिया।

दूसरे ही क्षण मैं आसमान में उड़ रहा था। पर मेरे साथ मिस जॉनसन न थी। मदारी की पिटारी की तरह न जाने कहाँ ग़ायब हो गई थी। मैं अकेला ही स्वर्गीय आनन्द ले रहा था। हवा साफ़ और ठंडी थी। घर की गरमी के बाद इस ठंडक से चित्त चहक उठा। मैं मन-ही-मन मिस जॉनसन के लिये आशीर्वाद की गठरी खोलकर बैठ गया। ईश्वर से प्रार्थना भी कई बार की कि ऐसी ही एक मिस रोज़ भेज दिया करें।

पर कुछ देर बाद ही हवा ठंडी से गर्म हो गई। कदाचित् मेरा हवाई जहाज़ इटली के ज्वालामुखी-पर्वत के पास पहुँच गया था। मैंने कभी ज्वालामुखी न देखा था, इसलिये मेरी इच्छा हुई कि हवाई जहाज़ कुछ देर के लिये वहाँ रुक जाय, और मैं उस पुण्य वस्तु के दर्शन कर लूँ। मेरे इच्छा करते ही हवाई जहाज़ ने 'हाल्ट' बोल दिया। मैंने भर-पेट ज्वालामुखी के दर्शन किए। बेढब चमत्कार था! क्या लाल-लाल लपटें निकल रही थीं! सारा प्रांत लाल हो रहा था। हवा तो जैसे आग की बेटी बन बैठी थी शीघ्र ही गरमी से मैं व्याकुल हो उठा, और इच्छा करने लगा कि वायुयान उड़कर यहाँ से चला जाय। पर वायुयान इस समय ऐसा अड़ गया था जैसे कुम्हार की गाड़ी नाली में अड़ जाती है, ज़रा भी न खिसका। मैंने मिस जॉनसन को (जो, मेरा विश्वास था, अवश्य ही अदृश्य रुप में मेरे साथ थी)

पुकारना चाहा, पर गला ही न चलता था। अब मुझे निश्चय हो गया कि आज प्राण नहीं बचते। ज्वालामुखी-दर्शन से ही मोक्ष मिल जायगा। घबराहट और तकलीफ से मैं रो पड़ा, पर गरमी के मारे आँसू न निकले। सारा बदन जला जा रहा था, खोपड़ी भिन्ना रही थी, शरीर के जीवन-तंतु तड़फ-तड़फ कर मरे जा रहे थे, पर कहीं बचने का उपाय न था। कहीं पेड़ की छाया भी न थी, जहाँ जा कर वायुयान की बाग छोड़ देता। चारों ओर बस लाल, लाल, लाल। कुछ ही देर में मुझे साँस भी रुकती-सी जान पड़ने लगी। ऐसा मालूम होने लगा, जैसे दम घुट जायगा। मारे घबराहट के मेरी आँख खुल गई। देखा, तो बाहर आँगन में खुली धूप में, मैं पड़ा था! जिस खाट पर मैं खाना खा कर सोया था, उसी पर नंगे बदन तुम साय भी लेटा था, और जेठ के दोपहर की धूप देह झुलसे दे रही थी। जिस समय मैं सोया हुआ था, किसी ने खाट-समेत मुझे उठा कर धूप में रख दिया था। एकदम स्वप्न मेरी आँखों के सामने घूम गया, यही तो वह ज्वालामुखी है, यहाँ तक दुष्ट लोग खाट उठाकर लाए, उसे ही नींद में मैं वायुयान समझा था। समझते देर न लगी, कौन खाट वहाँ ले गया था।

गुस्से से भरा हुआ मैं बड़े भांजे के पास पहुँचा, और डाटने ही वाला था कि मझले भांजे ने आकर कहा—चलो भैया, रोटी खा लो, आज बहुत देर हो गई। भूख के मारे

मेरे पेट में चिड़ियाँ कूद रही हैं।" मालूम हुआ, दोनों उसी समय बाहर से आए थे!

तीसरा भांजा अपनी मा के पास सोया था, और उसने जोरों से कह दिया कि वह वहाँ से उठा ही नहीं। बाक़ी दोनों भांजे छोटे थे। खाट उठाने का काम उनसे कदापि न हो सकता था। बहनोई साहब घर पर नहीं थे, ऑफ़िस गए थे। लाचार अपना गुस्सा मैंने अपने ऊपर ही उतारा। अपने हाथ से अपने गाल पर तीन थप्पड़ मारे, और उन्हें इस तरह बेहोश सोने की सजा समझ लिया।

इसके पहले भी सनातनधर्म का नाक (यानी चोटी) कई बार, सोते समय, काट ली गई थी। एक-आध बार मूछों पर भी हाथ साफ़ कर दिया गया था। पर चोटी और मूछ काटनेवाले को मैं कभी न पकड़ सका था। अतः सोने की सजा जरूरी हो गई थी।

एक दूसरे अवसर पर किसी शैतान ने ऊपर से मोरी का पानी मेरे कपड़ों पर छोड़ दिया। जाड़े की रात थी। मैं चौक से घूमकर लौटरहा था; ज्यों ही घर के दरवाजे पर पहुंच भीतर घँसने लगा, त्यों ही ऊपर छज्जे पर से किसी ने कीचड़ भरा पानी मेरे सिर पर छोड़ दिया। सारा बदन भीग गया। मुँह खुला था। उस रास्ते कुछ गंदगी मुँह में भी घुस गई। आँखों में भी कीचड़ चला गया। रेशमी कुरता और क़ीमती चादर खराब हो गए सो अलग। रात को

उस कड़कड़ाते जाड़े में नल के ठंडे पानी से नहाना पड़ा, और नहाकर जब गीले बदन खड़ा हुआ, तब धोती कहीं गुम गई ! बहुत देर तक उसी तरह अकड़ता खड़ा रहना पड़ा। मारे जाड़े के मुँह से आवाज न निकलती थी। बदन इस तरह काँप रहा था, जैसे सितार का तार। दाँत अपना विहाग अलग अलाप रहे थे, और सी-सी की 'काफ़ी' गाते-गाते अपना तो काफ़िया तंग हो गया। बहुत देर बाद कहीं जाकर धोती मिली, तब उस मुसीबत से छुटकारा मिल सकी।

इस तरह के कष्ट आए दिन हुआ करते थे। जूते चोरी चले जाना, वक्त पर छाता और टोपी ग़ायब हो जाना तो रोज का खेल था। बताइए, इतना कष्ट सहकर भी कोई मामा होने को तैयार होगा ? ऐसे मामा से तो चमार होना कहीं अच्छा है।

( ३ )

मैं जिस गाँव में रहता था, वह छछूँदर की तरह बहुत छोटा था। मुट्ठी-भर घर थे, जिनमें चुटकी-भर आदमी रहते थे। न कोई अच्छा मकान था, न कोई दूकान। काहे को वहाँ कभी मिठाई के दर्शन होते, और अच्छी मिठाई तो सुदर्शन-चक्र की तरह कभी-कभी याद की जाती थी। इसलिये जब मैं कानपुर से घर लौटता, तब दो-चार रुपये की बंगाली मिठाई जरूर ले लेता था।

एक बार कोर्ट में काम होने के कारण मैं कानपुर गया। मेरे पास समय थोड़ा था। कोर्ट का काम कर लखनऊ जाना था, और शीघ्र ही वहाँ से लौटकर घर आना था, पर पूरा एक दिन हाई कोर्ट में ही खर्च हो गया। दिन-भर का थका हुआ जब घर पहुँचा, तो रात को लखनऊ जाने की हिम्मत न पड़ी। सोचा, आज आराम करूँ, कल सुबह मोटर से लखनऊ चला जाऊँगा, और शाम तक वापस आकर रातवाली गाड़ी से घर के लिये रवाना हो जाऊँगा। अस्तु, भोजन कर आराम करने के लिये लेट रहा। पर उसी समय विचार आया कि शायद लखनऊ से लौटकर आने पर बाज़ार जाने का समय न मिले, इसलिये अभी बाजार से सब सामान खरीदकर यहाँ रख लिया जाय। बस, फौरन बाज़ार से जो कुछ खरीदना था, सो ले आया। पाँच रुपए की बढ़िया बंगाली मिठाई भी लाकर आल्मारी में रख दी।

दूसरे दिन बड़े सबेरे ही उठकर परेड की ओर भागा। सबसे पहली मोटर में जाने का इरादा था। वहाँ पहुँचकर देखा, तो मोटर क्या एक कौआ भी न था। उतने सबेरे कोई को कोई ड्राईवर कभी उठा होगा। लाचार, वहीं टहल-टहलकर समय काटने लगा। आठ बजे के क़रीब पहली लारी के दर्शन हुए, जो भाग्य से लखनऊ ही जाने के इरादे में थी। अपनी तो बाछें खिल गईं। चट 'पासपोर्ट लेकर उस पर जा डटा। पर जब बहुत देर हो जाने पर भी वह वहाँ से

न खिसकी, तब मैंने ड्राइवर से कहा—"अरे भाई, चलते क्यों नहीं ? देर क्यों करते हो ?"

ड्राइवर बोला—"अजी साहब, सवारियाँ तो अभी आईं नहीं। क्या अकेले आपको ही ले चलूँ ?"

मैं क्या कहता ? चुपचाप मनमारे नीचे उतर पड़ा, और एक ओर खड़ा हो गया।

कुछ देर बाद ही एक पहाड़-से सज्जन लुढ़कते हुए आए, और बगल में आकर अटक गए। चेहरा देखने से वह ढोर-अस्पताल के डॉक्टर मालूम होते थे। डॉक्टरों की सबसे बड़ी पहचान यह है कि चेहरे के भाव मुलायम नहीं होते। सैकड़ों हत्याएँ करते-करते दिल काफी कड़ा हो जाता है, वे ही भाव चेहरे पर चेचक की तरह फूट पड़ते हैं। यही बात उन सज्जन के चेहरे पर मालूम हुई। मैं डॉक्टरों का भारी भक्त होने के कारण उनसे बात करने के लिये छटपटाने लगा। पर वह हज़रत बंदर की तरह देखकर फिर मुँह फिरा लेते थे। आखिर मुझसे न रहा गया। गला साफ कर मैं पूछ उठा—"आप कहाँ जायँगी ?"

डॉक्टर साहब मुझे सिर से पैर तक घूरने लगे। फिर बोले—"आप किस क्लास तक पढ़े हैं ?"

मैंने कहा—"क्यों ?"

"आपको स्त्रीलिंग और पुंलिंग का भेद नहीं मालूम ! देखने में तो आप पढ़े-लिखे मालूम होते हैं, पर हैं पूरे बैल।"

मैंने कहा—"नहीं जनाब, सवारी-शब्द स्त्रीलिंग है—सवारी—सवारियाँ। आप मोटर की एक सवारी हैं, या नहीं ? बस, उसी हैसियत से उत्तर दीजिए।"

सज्जन आनन्द से गद्गद हो उठे। गलगलाते हुए बोले—"आप तो बड़े मज़े के आदमी हैं। कहाँ रहते हैं आप ?"

बस, फिर तो डॉक्टर साहब खूब घुल गए। उनको चेला बनाने के लिये ही मैंने यह शिगूफ़ा छोड़ा था, सो ठीक बैठा। वह भी लखनऊ ही जा रहे थे। फिर तो इस तरह रास्ता कटा, जैसे मोटर में नहीं, नानी की गोद में बैठा होऊँ।

लखनऊ पहुंचते-पहुंचते तीन बज गया। रास्ते में दो जगह मोटर बर्स्ट हुई, जगह-जगह सवारियाँ उतारी-चढ़ाई गईं, इसलिये इतनी देर हो गई। वहाँ पहुँचकर जल्दी-जल्दी जिस काम के लिये गया था, उसे किया, पर उसे पूरा करते-करते शाम हो गई। जो इरादा कर चला था कि दोपहर तक लखनऊ पहुँचकर काम कर लूँगा, और चार बजे की गाड़ी से कानपुर रवाना हो जाऊँगा, और उसी रात को घर की गाड़ी पकड़ लूँगा, सो कुछ भी न हो पाया। गाड़ी मेरे लिये ठहरे बिना ही छूट गई। अब मैं बड़े चक्कर में पड़ा। आखिर एक मित्र के यहाँ जाकर दूसरी गाड़ी के जाने तक ठहरने की ठहराई।

मित्र मुझे देखकर बहुत प्रसन्न हुए। झपटकर गले से लिपट गए। बहुत दिन बाद उनसे भेंट हुई थी, इसलिये मेरा प्रेम भी फसक पड़ा। जी खोलकर गले मिला, और दिल

खोल तथा आँखें बन्द कर खूब रोया, जैसा भेंट' करने का क़ायदा है।

मित्र ने खूब ख़ातिरदारी की। रात का खाना-पीना हो जाने के बाद पान देते हुए बोले—"गाना सुनने चलते हो ?"

मैं गाने का बहुत भारी शौक़ीन हूँ। गाने का नाम सुनते ही इस तरह उछल पड़ता हूँ, जैसे बच्चा मिठाई का नाम सुन-कर उछलता है। मैंने पूछा—"कहाँ ?"

"एक दोस्त के यहाँ। आज मुजरा है। उन्होंने आने के लिये बहुत आग्रह किया है। तुम भी चलो न। मित्र से तुम्हारा परिचय करा दूँ। ग़फ़ूरनजान का गाना है।"

बस, मैं घर लौटना भूल गया। दस बजे हम लोग गाना सुनने चल दिए।

निश्चित स्थान पर पहुँचकर देखा, तो मजलिस ज़ोरों से लगी हुई थी। शहर के बहुत-से नामी-गरामी आदमी बैठे पान की 'जुगाली' कर रहे थे। कुछ देर बाद छमाछमाहट के साथ बी ग़फ़ूरन खड़ी हुईं। बी ग़फ़ूरन मियाँ ग़फ़्फ़ार की बेटी और मियाँ जब्बार की पोती थीं। गाने में इतना कमाल रखती थीं कि पत्थर तो पत्थर, उसे सुनकर आपका दिल पिघल जाय। इसीलिये तो जहाँ वह गातीं, वहां लोग पिघल-पिघलकर रुपए और नोट टपकाने लगते थे। बी ग़फ़ूरन ने इठलाकर मुर्गी की तरह मचलते हुए यह ग़ज़ल छेड़ी—

"मेरे दिल को चुरा करके छिपे सरकार बैठे हैं।"

वाह, मेरा दिल तो एक ही कड़ी में पिघल उठा। चारों ओर से वाह-वाह के पनारे बहने लगे। लोग झूम-झूमकर चीखने लगे 'वल्लाह', 'वल्लाह',। बन्दा भी गाने की कला में जानकारी रखने का दम भरता है, और इसीलिये इस कला से इतना शौक़ है। क़सम-क़सम, अगर मैं मकान के अन्दर गा दूँ, तो आप फ़ौरन् यह देखने दौड़ पड़ें कि किसका मकान गिर रहा है, और अगर बाहर मैदान में गाऊँ, तो यह समझकर कि भूकम्प आ रहा है, आप सिर से पैर तक मारे तारीफ़ के सिहर उठें। ऐसा गुणवान होकर भी उस समय भी ग़फ़ूरन को दाद न देना भलमनसाहत न होती, इसलिए मैंने अपने पिछले पैरों पर खड़े होकर फ़ौरन् फ़रमाया –"तौबा, तौबा, तौबा !"

एक सज्जन ने, जो मेरे बग़लगीर थे, मेरा हाथ पकड़कर खींचा, बोले "अरे बैठो, बैठो। यह क्या बक रहे हो ! तारीफ़ करनी चाहिए, तुम तो रंज दिखला रहे हो !"

मैंने तमककर कहा—"वाह, तारीफ़ तो कर ही रहा हूँ। मैं जब गाता हूँ, तब लोग यही लफ़्ज़ कहकर दाद देते हैं।" मजलिस के खड़खड़ाकर हँस उठने के कारण मैं और कुछ न कह सका। बैठ जाने पर जब मित्र ने तौबा का अर्थ समझाया, तब मारे शर्म के मेरा चेहरा लाल हो गया, और उत्साह को तो लक़वा ही मार गया। हाय, हाय, उर्दू-मुहावरे की ग़लती हो गई और वह भी लखनऊ में ! जो उर्दू की 'गंगोत्री' है। जिस प्रकार गंगा हिमालय-पर्वत से निकलकर मैदान में बहती है, उसी प्रकार उर्दू

लखनऊ-पहाड़ की गुफाओं से निकलकर सारे भारतवर्ष में बहती है। ऐसे स्थान में उर्दू की ग़लती कर देना तो डूब मरने की बात थी। ख़ैरियत थी कि जिनके साथ मैं वहाँ गया था, उनके सिवा वहाँ मुझे कोई पहचानता न था ( क्योंकि मकान-मालिक से उस समय तक मेरा परिचय न हुआ था ), नहीं तो फिर कभी लखनऊ जाने की हिम्मत न पड़ती। इसके बाद अन्त तक मुँह के फाटक का कुंडा चढ़ाए बैठा रहा।

जब सभा उठी, उस समय रात के तीन बज गये थे। आँखें पाप की गठरी की तरह भारी हो रहीं थीं, और शरीर इस तरह अलसाया हुआ था, जैसे शराब का नशा दूर हुआ हो। चला, तो दिल हो रहा था कि सड़क पर ही लेट रहूँ, पर आराम करना भाग्य में बदा न था। चार बजे ही गाड़ी कानपुर के लिये रवाना होती थी। शाम और रात की ट्रेनें मिस कर चुका था, अब इसे हरगिज न छोड़ना चाहता था, इसलिये मित्र के बहुत रोकने पर भी मैं न माना, फ़ौरन् लखनऊ-स्टेशन की ओर चल दिया।

जिस समय कानपुर में बहन के घर पहुँचा, उस समय घर जाने वाली गाड़ी को सिर्फ़ आध घन्टा था। जल्दी-जल्दी सामान ठीक करने लगा। उसी समय तीसरे भाँजे ने आकर कहा—"मामाजी, तुम्हें मिठाई नहीं मिली ? आज गोपाल भैया ने हम सबको पार्टी दी थी। उनका परीक्षा-फल आ गया

है। दूसरी श्रेणी में पास हुए हैं। उसी की खुशी में उन्होंने मिठाई खिलाई है।"

मैंने कहा—"यह तो बहुत खुशी की बात है, पर मेरा हिस्सा मुझे नहीं मिला। कहाँ है गोपाल? बुलाओ उसे, क्या मेरी मिठाई खुद साफ कर गया?" उस समय मुझे नहीं मालूम था कि दरअसल मेरी ही मिठाई साफ़ की गई थी।

इतने में गोपाल भी आ गया। देखते ही बोला—"अरे मामाजी, लो आ गए! लीजिए, लीजिए। आप भाग्यवान् तो हैं, लेकिन आपका भाग्य बचकानी है। आपकी क़िस्मत से दो रसगुल्ले बच रहे हैं, बाक़ी सब इन लोगों ने उड़ा डाले।"

जब मैं चलने लगा, तब मिठाई की हाँडी निकालने के लिए अल्मारी खोली, पर वहाँ हाँडी क्या एक तिनका भी न था। तब मेरी समझ में आया कि गोपाल ने पास होने की मिठाई क्यों खिलाई। गुस्सा तो बहुत आया, पर करता क्या, मैंने भी तो दो रसगुल्ले खाए थे। मन मारकर रह गया। हाँ, चलते समय बहन को जो पाँच रुपए मैं हमेशा दिया करता था, सो उस बार नहीं दिए।

( ४ )

इन घटनाओं से चिढ़कर मैंने कानपुर जाना बहुत कम कर दिया। यों ही कभी चला जाता था। जहाँ तक होता, वहाँ का जाना बचाया करता था, पर बहुत-से मौक़े ऐसे पड़ते थे कि

जाना ही पड़ता था। लेकिन एक बार इतना परेशान होना पड़ा कि अब वहाँ जाने की क़सम खा ली है।

उस बार एक सज्जन की बरात में कानपुर गया। बरात में खाने-पीने और ठहरने की तकलीफ़ होती है, यह सोचकर बहन के यहाँ ही डेरा डालना पड़ा। बिस्तर का पुलिंदा पीठ पर टाँगे जब मैं उनके मकान की तीसरी मंज़िल पर चढ़ा, उस समय ठीक चार बजा था। भीतर पहुँचकर देखा, तो मिश्रजी (बहनोई साहब) कुछ छान रहे थे। देखते ही कबूतर की तरह फड़फड़ाकर बोले—"वाह, वाह, अच्छे मौक़े पर आए। आओ, आओ। एक गिलास तुम भी लो।"

मिश्रजी की बग़ल में उनके मित्र मस्तराम बैठे माथे का पसीना पोंछ रहे थे, जैसे पहाड़ पेलकर अभी उठे हों। सामने सिल-बट्टा रक्खा था, और पास ही बादाम के छिलके पड़े संसार की असारता का प्रश्न समझा रहे थे। एक ओर एक दूसरे मित्र, नंदू पहलवान, बैठे अपना बदन फुला रहे थे। रंग गहरा है, समझकर मेरा माथा ठनका। पीठ पर का बंडल एक ओर रख और फूलती हुई साँस को दबाते हुए मैंने पूछा—"क्या है?"

मिश्रजी—"ठंडाई।"

मैंने कहा—"क्षमा कीजिए। मैं भंग-भवानी का इतना भारी भक्त हूँ कि उन्हें घोंटकर पीने की धृष्टता नहीं कर सकता।"

"अरे, जब घोटी हुई मौजूद है, तब ?"

"तब भी। आखिर घोटी तो गई। मैंने घोटी या आपने।"

अब की मस्तराम ने अपना भोंपू खोला। बोले—"अजी, भंग कहाँ, सिर्फ ठंडाई और बादाम हैं। मुझे तो खुद भंग से नफरत है, आप बार-बार भंग के बारे में कुछ मत कहिए।"

मुझे मालूम था कि हज़रत दोनों वक्त एक-एक लोटा ढकेलते थे, और इसी कारण इस बेमुरव्वती से मोटे हुए थे। नाम भी इसीलिए मस्तराम पड़ गया था। मुझे घसीटने के लिए इस तरह बन रहे थे। मैंने कहा—"आप लोग पीजिए। मेरे सिर में कुछ दर्द है। मुझे माफ कीजिए।"

नंदू पहलवान ने हाथ पकड़कर बैठाते हुए कहा—"थके हुए हो, इसलिए सिर में दर्द है। एक 'डोज़' लो, अभी दुरुस्त हो जाओगे।"

हज़ार 'नहीं-नहीं' करने पर भी दो गिलास 'ठंडाई' मेरे गले के नीचे उतार दी गई। उन्होंने ठंडाई कहकर पिलाया था, पर मुझे उसमें भंग होने का शक था, इसीलिए मैं डर रहा था, क्योंकि मालूम नहीं, उस जन्म में मैं भंग के खेत की पार पर दरख्त था, या उसके साथ घास बनकर रहता था, जो ज़रा-सी भी चख लेने पर बीते जन्म का संचित नशा एकदम बेक़ाबू होकर मुझ पर टूट पड़ता है। इस कमबख्त नशे को मुझसे इतनी मुहब्बत है कि मैंने भंग देखी, या उसकी महक सूँघी कि नशाराम..गले से

आ लिपटे। यह बात मुझे दस वर्ष पहले ही मालूम हो गई थी, इसलिए मैं इन भवानी के नाम से ही दूर भागता था। दस साल पहले एक दिन दोस्तों ने जबरदस्ती भंग पिला दी थी। उस दिन मैं पागल-सा हो गया था। तब से मैंने चोटी पकड़ी कि अब कभी भँगेड़ियों की सोहबत में न रहूँगा। पर अब रंज होता है कि अगर इन महात्माओं का संग कर लिया होता—भंग न पी होती, सिर्फ उनकी बातें ही सुनी होतीं—तो कानपुर में उस दिन वह दुर्गति न होती। लेकिन बदी तो थी परेशानी, सत्संग नसीब कैसे होता ?

'शांति-सदन' से लौटकर जब मिश्रजी लोटा माँज चुके, तब बोले—"चलो, धोती निकालो। गंगाजी चलना है।"

हालाँकि उनके अनुसार मैंने ठंडाई पी थी, पर जो मुझे शक था, उसके कारण मैंने कहीं बाहर जाना उचित नहीं समझा। बोला—"क्या गंगाजी ! मैं शाम को कभी नहीं नहाता। आप जाइए, मैं न चलूँगा।"

"चलो भी, आजकल शाम को नहाने का तो मजा ही है।"

मैंने बहाना ढूँढ़ा—"जिनकी बरात में आया हूँ, वहाँ जाना है। आप चलिए, मैं वहाँ से होता हुआ आऊँगा।"

पर मिश्रजी चींटे की तरह सहज ही छोड़ने वाले न थे। बोले—"नहीं, तुम्हें साथ चलना होगा। वहाँ से लौटकर बरात में शामिल हो लेना। आगवनी तो रात हो होगी, अभी वह क्या रक्खा है।"

ख़ैर, जनाब, भाग्य को कोसता हुआ उनके साथ रवाना हुआ।

पीछे-पीछे चला तो, पर कुछ ही दूर जाने पर पैर बुढ्ढी के सिर की तरह काँपने लगे, दिमाग़ में धमाचौकड़ी शुरू हो गई, और या तो मेरी आँखें घूमने लगीं, या सामने के मकान और राह के आदमी 'फिरकी' लगाने लगे। मैं समझ गया कि मेरा शक सच था। ठंडाई कहकर मुझे भंग पिलाई गई है, और उसके नशे के आगमन के लिये ही यह 'लाइन-क्लियर' दिया जा रहा है। मैंने मिश्रजी से कहा—"क्यों जनाब, ठंडाई कहकर भंग पिला दी ? मुझे कुछ नशा-सा मालूम होता है।"

मस्तराम झूमते, नंदू पहलवान अकड़ते और मिश्रजी दोनों के बीच में सिकुड़ते बातें करते चले जा रहे थे। मेरी बात सुन पीछे फिरकर बोले—"नहीं जी, यह तुम्हारा ख़याल-ही-ख़याल है। नशे की बात सोचो, तो रोटी खाते कमबख़्त नशा आता है। आओ, हमारे साथ चलो। उस तरफ़ से अपने विचार हटा लो।"

मैंने रुकते हुए कहा--"नहीं, मैं आगे नहीं जाना चाहता। मेरा सिर भारी हो रहा है। आप लोग जाइए। मैं घर जाता हूँ।"

अब की मस्तराम करवट लेकर बोले—"अरे यार, तुम भी अजब चाघड़ हो, चले आओ, नख़रे क्यों करते हो !"

नंदू पहलवान मुँह से नहीं बोले, लपककर मेरा हाथ

पकड़ लिया, और खींचकर ले चले। मैंने झटका देकर हाथ छुड़ाना चाहा, तो कमबख़्त ने मुट्ठी कस दी। आह! दर्द के मारे मैं चिल्ला उठा। ऐसा मालूम हुआ, जैसे कलाई की हड्डी चूर-चूर हो गई। क्षण-भर के लिये नशा मानो उड़ गया। दर्द के कारण मेरी आँखों में पानी भलक पड़ा। पर मेरी तकलीफ़ देखकर सहानुभूति दिखाना और उस नंद्-चंद् से बदला लेना तो दूर रहा, मस्तराम और मिश्रजी आनंद से मुस्किरा पड़े। मस्तराम ने कहा—"अरे जाने दे यार, नाज़ुक कलाई लचक जायगी।"

नंद् ने कहा—"तो चुपचाप चले क्यों नहीं चलते। नाहक़ दिल फटने की बातें क्यों करते हैं।"

मस्तराम—"चलेंगे नहीं, जायँगे कहाँ। तुम हाथ तो छोड़ दो।"

नंद् ने हाथ छोड़ दिया। उसका पंजा ढीला पड़ते ही मैंने झटका देकर अपना हाथ छुड़ाया, और पलटकर घर की ओर भागा। जो दुष्ट ज़रा-सी बात पर कलाई मरोड़ सकता हो, उसके साथ जाने की किसकी हिम्मत पड़ सकती थी? मुझे डर लगा, अगर अब की बार कुछ कहूँगा, तो यह कमबख़्त गरदन ही मरोड़ बैठेगा। दूसरे यह भय भी था कि कहीं नशे की हालत में गंगाजी अपनी भेंट समझ प्यार का गोता न खिला बैठें, वरना इस चढ़ती जवानी में ही मोक्ष मिलने का इंतज़ाम हो जाय। इस बात का डर भी कुछ कम न था कि कहीं माल

रोड पर किसी इक्का, ताँगा, बग्घी, मोटर या ट्राम के नीचे दबकर दर्शकों के मजे की सामग्री न जुटा दूँ। क्योंकि उस समय मुझे न अपने पैरों पर विश्वास था, न दिमाग़ का भरोसा था। सारी देह नशे में डूबी हुई-सी मालूम होती थी। अतः खूब सोच-विचार कर मैंने घर लौट जाना ही ठीक समझा। पर साधारणतः वे खूसट लौटने न देते, इसलिये हाथ छूटते ही मैं हवा से बातें करने लगा।

पहले तो मेरी इस आकस्मिक क्रिया को देखकर मिश्रजी इत्यादि स्तब्ध रह गए, पर तुरंत ही नंदू मुझे पकड़ने के लिये मेरे पीछे दौड़े। वैसे तो मैं दौड़ने में बहुत कम क़ाबिलियत रखता हूँ; जब स्कूल में था, तब हमेशा हरएक दौड़ में पीछे रह जाता था, पर उस दिन न-जाने कहाँ की ताक़त मेरी पतली टाँगों में आ टपकी। शायद भंग-भवानी की मेहरबानी की निशानी थी कि मैं हवा में उड़ा जा रहा था। अगर यह नुस्खा पहले मालूम हो जाता, तो वल्लाह, बंदा हमेशा हरएक 'रेस' में स्कूल में फ़र्स्ट रहता। पर आह! वह जमाना निकल गया था।

नंदू को पीछे झपटते देखा, तो मैंने अपने को फुलस्पीड से छोड़ दिया। पर कमबख्त चार रुपए के नए पंजाबी जूते उस वक़्त 'ब्रेक' का काम करने लगे। डर लगा कि वे कहीं पकड़वा न दें, जिस तरह एक कहानी में एक बारहसिंघे के सींगों ने उसे पकड़वा दिया था। इच्छा हुई कि जूते उतार फेंकूँ, पर

लोभ ने हाथ पकड़ना चाहा, उसी समय कजाई दर्द के मारे व्याकुल हो गई, और लोभराम को हट जाना पड़ा। मैंने फ़ौरन पैर झटककर जूते अलग फेंके, और तीर की तरह आगे बढ़ गया।

मेरे पैर झटकने पर मेरे सौभाग्य से और नंदू पहलवान के दुर्भाग्य से मेरा एक स्वामिभक्त जूता अपने मालिक के अपमान का बदला लेने नंदू के गाल पर जा पड़ा। जब तक नंदू गाल सुहलावें, तब तक तीन आदमियों को अपने धक्के से गिराता और उनकी गालियों की परवा न करता हुआ मैं बहुत आगे बढ़ गया था।

पर मैं जितने ज़ोर से भाग रहा था, नशा उससे भी तेज़ी के साथ चढ़ता आ रहा था। अगर मैं पैदल था, तो वह साइकिल पर, मैं साइकिल पर, तो वह मोटर पर और अगर मैं मोटर पर था, तो वह एरोप्लेन पर। शायद दौड़ने से गरमी बढ़ जाने के कारण या शायद भंग की तादाद ज्यादा होने के कारण या शायद जैसा कि ऊपर कह चुका हूँ, मुझ पर विशेष प्रेम होने के कारण नशा इस तरह बढ़ रहा था, जैसे असाढ़ में मक्खियाँ। जब मैं भागा, तब मुझे याद था कि मैं घर जा रहा हूँ, जब नंदू पीछे दौड़े, तब यह याद रहा कि नंदू से बचने के लिये भाग रहा हूँ। पर जब नंदू ने पीछा छोड़ दिया, तब मैं यह भी भूल गया कि मैं कहाँ जा रहा हूँ, और क्यों दौड़ रहा हूँ। किंतु फिर भी मेरी चाल में

फ़र्क़ न आया। हाँ, या अवश्य याद रहा कि मैं नशे में हूँ, और कहीं जा रहा हूँ। पर कहाँ जा रहा हूँ, यह इस तरह भूल गया, जैसे रुपया उधार लेकर लोग अक्सर भूल जाते हैं।

उस समय भागने का भूत भीतर-ही-भीतर भड़क गया था। मैं आव देख रहा था न ताव। पैर इस तरह जल्दी-जल्दी उठ रहे थे, जैसे मुन्नू नाई का पुश्तैनी छुरा छुन्नू मियाँ की करकरी दाढ़ी पर 'कर्र-कर्र' चलता है। पर यह याद न आता था कि कहाँ और क्यों जा रहा हूँ। बारहा याददगार के डंडे लगाए, पर दिमाग़ का गधा न टला, न टला। उसी समय एक डाक्टर का दवाख़ाना सामने नज़र पड़ा। उसके साथ ही बिजली की तरह यह ख़याल दिमाग़ में दौड़ गया कि मुझे आज भंग खिलाई गई है, इसलिये नशे की दवा लेने मैं डाक्टर के यहाँ जा रहा हूँ। बस, फिर क्या था, घर की तरह धड़धड़ाता हुआ दवाख़ाने में घुस गया, और एक आराम-कुर्सी पर धप्प-से धर रहा।

डाक्टर परिचित थे। मिश्रजी से उनका बड़ा घरौवा था। मेरे बड़े भाँजे को मित्र की तरह मानते थे। मिश्रजी को चाचा और मुझे बाक़ायदा मामाजी कहते थे। इस तरह मुझे आया हुआ देखकर वह एकदम घबरा उठे, जैसे अँधेरी रात में किसी काली मेम को सफ़ेद साया पहने अपनी ओर आते देख आप घबरा उठें। चट उठकर मेरे पास दौड़े। काँपती हुई आवाज़ में बोले—"क्यों-क्यों, मामाजी, क्या बात है?

इस तरह आप कहाँ से आ रहे हैं ? घर पर तो सब कुशल है ?"

मैंने देखा, डाक्टर डर रहा है, आराम से आराम-कुर्सी पर अपने अंग आहिस्ता-आहिस्ता फैलाते हुए मैंने कहा—"घर पर सब कुशल है भैया। मैं ही तुम्हारे पास एक दवा लेने आया हूँ। मुझे इस ग्लानि से मुक्त करो।"

डाक्टर ने 'रिलीफ' की एक 'साँस' छोड़ी—हिंदी की 'साँस' नहीं, अंग्रेजी की साईं ! मुस्कराता हुआ बोला—"आपको क्या हो गया ?"

मैंने कहा—"क्या कहूँ, मैं कभी भंग पीता नहीं, उस कम्बख्त मस्तराम ने आज जबरदस्ती कई गिलास पिला दी। अब मारे नशे के तबियत बेचैन है। कोई 'नशा-नाशक' औषधि हो, तो दो।"

डाक्टर बादल की तरह खूब गंभीर हो गया। कुछ देर सोच-कर बोला—"तो आप भंग कभी नहीं पीते ?"

मैंने सिर के साथ सारा शरीर हिलाकर, जिससे शब्दों में खूब ताकत आ जाय, कहा—"नहीं, कभी नहीं।"

सिर खुजलाते हुए वह बोला—"तब आपको एक ही चीज फायदा कर सकती है। अगर आप हमेशा भंग खाते होते, तो नीबू के अचार से आपका नशा उतर जाता, लेकिन यह केस बहुत डिफरेंट है। ऐसी हालत में हकीम, डाक्टर, वैद्य सभी यह दवा प्रिस्क्राइब करते हैं। आप भरपेट गर्म रसगुल्ले खाइए। ईश्वर चाहेगा, तो आपको फौरन् फायदा मालूम होगा।"

"धन्यवाद" कहकर मैं खुशी-खुशी बाहर निकला और एक तरफ चला, जिधर, मेरे खयाल से, मिठाई की दूकानें थीं। हाय, यदि कभी भंगी···भ ··भ···भँगेड़ियों का सत्संग कर लिया होता, तो काहे को ऐसी गलती होती, और कैसे वह धूर्त डाक्टर बुद्धू बना सकता।

खैर साहब, मैं तो दवा मिल जाने की खुशी में था, उछलता हुआ एक मिठाई की दूकान में घुस गया, और इतमीनान के साथ भीतर के कमरे में रक्खी एक कुर्सी पर बैठ गया। पर मेरे बैठते ही कुर्सी बेबी भी चरमराकर बैठ गई। मानो मेरा बैठना उनकी आँखों में अनाधिकार चेष्टा थी, जिसका उन्होंने बड़े ज़ोरों से प्रतिवाद किया। लेकिन बैठते समय उन्होंने बेरहमी और बेशरमी से जब मुझे एक ओर फेंक दिया, जिसके फल-स्वरूप सिर में कई रोज़ तक गाँठ पड़ी रही, तब मैं झुँझला पड़ा। "धोबी से न जीते, तो गधे के कान मरोड़े" की कहावत को उलटाकर "गधे से न जीते, तो धोबी के कान मरोड़े" के अनुसार कुर्सी के दोष के लिये दूकान मालिक को डाँट सुना दी—"क्योंजी, तुमने हमें गिरा दिया! यही तुम्हारी भलमनसाहत है कि जो तुम्हारे यहाँ आए, उसका इस तरह सत्कार करना? मैं अब कभी तुम्हारी दूकान पर नहीं आऊँगा।" यह कहकर मैं चलने लगा। दूकान-मालिक ने दौड़कर मेरी बाँह थाम ली। क्षमा-याचना करते हुए ले जाकर एक दूसरी कुर्सी पर बैठा दिया,

और बिना माँगे ही पाव-भर सफेद रसगुल्ले लाकर मेरे हाथ पर रख दिए। रसगुल्ले सामने देखते ही गुस्सा गायब हो गया। चट एक रसगुल्ला उठाकर मुँह में रख लिया। आह! क्या कहूँ। गजब का स्वाद उस जरा-सी चीज़ में था! अगर देवता उसे उस समय चखते, तो अमृत का स्वाद भूल जाते, और अगर खुदा खाता तो खाता ही रह जाता। चार ही कौर में पाव पर छापा मारकर मैंने कहा—"पाव-भर और दो।"

दूकानदार हाथ में दूसरी बार दोना देता हुआ बोला—"क्यों बाबू साहब, आए न पसंद? हमारे यहां काम ही ऐसा होता है कि ग्राहक की तबीयत खुश हो जाती है। खिलाकर पैसा लेते हैं। खराब निकल जाय, तो जुर्माना दें। आज ही देखिए, क्या बढ़िया चीज आपको खिलाई कि आपका दिल फड़क उठा। जनाब, आप सारा बाजार छान मारिए, अगर कहीं यह चीज मिल जाय, तो मैं पाँच रुपए सेर के दाम दूँ। भंग डालकर रसगुल्ले बनानेवाला कल्लू के सिवा इस शहर में निकल आवे, तो मैं आज से यह रोजगार तोड़ दूँ। सब लोगों को यह चीज दी भी नहीं जाती। आपको शौक़ीन देखकर मैंने यह नायाब चीज नजर की है। हुजूर भी अच्छी परख रखते हैं।"

इतनी देर में दूसरा दोना भी साफ हो चुका था। दूकानदार जिस समय बोल रहा था, उस समय मैं हर एक इंद्रिय से

रसगुल्लों का स्वाद ले रहा था। सारे शरीर के साथ कान भी उस चीज़ का मज़ा लूटने में लगे थे। इसलिये मैं सुन न सका कि दूकानदार ने क्या कहा। हाँ, दूसरी तरफ़ लगे रहने पर भी कान तेज़ होने के कारण भंग की भनक उन तक पहुंच गई। मैं समझा, डॉक्टर की तरह यह भी कह रहा है कि यह भंग की दवा है। अतः उसकी बात के साथ ही अपना दोना खत्म कर मैंने कहा—"तभी तो खा रहा हूँ। भंग बहुत खराब चीज़ है। ईश्वर सबको इससे बचाए, पर करूँ क्या, कभी-कभी ज़बरदस्ती ही खानी पड़ती है। आधसेर रसगुल्ले और दो।"

मालूम नहीं, दूकानदार ने मेरी बात का क्या अर्थ समझा। रसगुल्ले देता हुआ बोला—"जी हाँ, आदत ऐसी ही चीज़ है।"

वैसे तो मैं बहुत सूक्ष्म आहार करता हूँ। पर न जाने उस दिन कहाँ की भूख फट पड़ी। न जाने पेट में कैसे इतनी जगह हो गई कि पूरे सेर-भर रसगुल्ले अंट गए! खा चुकने पर मैंने दाम देने के लिये जेब में हाथ डाला, तो मनीबेग ग़ायब! अवश्य ही भागते समय वह जेब से गिर गया था। जेब खाली पाते ही दिल धड़क उठा। यही खयाल हुआ कि इज्जत गई। दूकानदार बिना मारे न छोड़ेगा। कमबख्त कहेगा कि पैसे न थे, तो किसके भरोसे शौक़ीनी करने आए थे? हाय! हाय! भंग ने आज भरी नाली में डुबाया। इज्जत

का खयाल आते ही दिल एक दम काँप उठा। पर वहाँ बहुत देर तक बैठने की हिम्मत भी न थी। मारे नींद के बेहोशी आ रही थी। सारा बदन गिरा-सा पड़ता था, और तरह-तरह के विचार सनसना रहे थे। आखिर सब शक्ति समेटकर मैंने कहा—"क्योंजी, तुम मिश्र को जानते हो?" पर मेरी आवाज न जाने कैसी हो गई थी। उसके अजनबीपन पर मुझे ही आश्चर्य होने लगा।

किसी तरह दूकानदार मेरी बात समझ गया। बोला—"जी हाँ, जानता क्यों नहीं, खूब अच्छी तरह जानता हूँ। अपने मुहल्लेवालों को भी कोई न जानेगा! वह क्या मोड़ पर मिश्रजी का मकान है।"

ओहो! तो मैं घर के पास ही बैठा हुआ था! मैंने ईश्वर को इस बात के लिये याद नहीं, कितने धन्यवाद देने की प्रतिज्ञा की। अगर घर कहीं दूर होता, तो उस दिन कदापि घर न पहुँचता। मकान का निकट होना सुन मेरा साहस ताड़ के पत्ते की तरह बढ़ गया। मैंने कहा—"और मुझे पहचानते हो?"

दूकानदार ने दबी जबान से कहा—"आपका नाम तो नहीं जानता, पर यह मालूम है कि आप मिश्रजी के रिश्तेदार हैं।" कहकर वह धूर्त मुस्किरा पड़ा।

मेरा इतना ही मतलब था। इज्जत बच गई। मैंने कहा—"तो कल अपना बिल भेजकर उनके यहाँ से अपने दाम मँगा

लेना" और आगे कुछ कहने का अवसर दिए बिना ही मैं उठकर चल पड़ा। पर न जाने क्यों उठते ही चक्कर आ गया। कुर्सी का सहारा न ले लिया होता, तो जरूर गिर पड़ता। किसी तरह संभल कर फिर चला, तो पैर लड़खड़ाने लगे। मैं भरसक सीधा चलने की कोशिश करता, पर पैर कभी आगे पड़ते, कभी पीछे, कभी दाहिनी ओर पड़ते, कभी बाईं ओर। ठीक उसी तरह जैसे किसी नौसिखिए के हाथ में आकर साइकिल का हैंडिल मनमानी दिशा को जाने लगता है। जिस तरफ पैर जाते, उसी तरफ सारा बदन गिरा-सा पड़ता था। आंखें खुली थीं जरूर, पर साफ-साफ कुछ सूझता न था। सामने की दुकानें-सड़क-घर सब घूमते-से मालूम होते थे। प्रत्येक कदम के साथ मैं आकाश में उठा जाता हुआ-सा मालूम होता था। कान में कभी शब्द होता, कभी भन्न और कभी ठनन्, ठनन, ठनन,। उफ़! किस तरह मैं घर के दरवाजे तक पहुंचा, इसका वर्णन करना मेरी क़लम की ताकत के बाहर की बात है।

पर दरवाजे तक पहुंचकर ही मैं गिर गया। मालूम नहीं, चक्कर आ गया, या नींद आ गई, या बेहोशी ने घर दबाया।

जब मेरी आँख खुली, तब मैं पलंग पर पड़ा हुआ था। मिश्रजी सामने खड़े थे, और रसगुल्लेवाला डॉक्टर मेरे ऊपर झुका हुआ था। मेरा सिर उस समय भी चक्कर खा रहा था, और उस पर मन-भर का बोझ-सा रक्खा मालूम होता था।

पन्द्रह दिन तक मैं बीमार रहा। जब अच्छा होकर उठने-

फिरने लगा, और चक्कर देव बिदा हुए, तब मिश्रजी ने बतलाया कि जब वह गंगा से लौटे, तब मैं मकान के दरवाजे के पास की नाली में पड़ा हुआ था। उन्होंने मुझे उठाकर पलंग पर ला लिटाया, और दवा की आयोजना की। मैं दो दिन-रात एकदम बेहोश रहा। किसी तरह तीसरे दिन मेरी आँख खुली थीं।

एक दिन सुबह मैं बैठा नाश्ता कर रहा था कि एक कागज़ लाकर मिश्रजी ने मेरे हाथ पर रख दिया। बोले—"यह अपना बिल चुकाओ।"

मुझे कुछ भी याद न था कि किसी के यहाँ से कभी मैंने उधार सौदा लिया है। अकचकाकर देखा, तो सात रुपए का बिल था। दो रुपए के सफ़ेद रसगुल्ले, पाँच रुपए एक कुर्सी के दाम। मैंने पूछा—"यह कैसा बिल है?"

"बिल कैसा है? उस दिन तुमने रसगुल्ले खाए थे? उसी का बिल है। नशे में खूब डाटकर खा गए होगे। बाद में बेहोशी में एक-आध कुर्सी तोड़कर भाग आए होगे। नशे में उपद्रव ही तो सूझता है। मेरे लिहाज़ के मारे, मालूम होता है, दूकानदार ने तुम्हें छोड़ दिया, नहीं तुम्हारी यह लम्बी नाक वह तिरछी कर देता।"

उस समय मुझे कुछ-कुछ याद आया कि हाँ, मैंने रसगुल्ले खाए थे, और एक टूटी कुर्सी पर बैठने के कारण सिर में चोट लग गई थी। सिर में जहाँ चोट लगी थी, उस स्थान

को मैंने फ़ौरन रूमाल से छिपा लिया। यदि मिश्रजी को मालूम हो जाता कि मेरे चोट भी लगी थी, तो अवश्य कह उठते कि मैं पिट भी गया था। यह खूब रही, सिर-का-सिर फूटा, उल्टे कुर्सी के दाम चुकाओ। मिश्रजी ने जो बुरा-भला कहा, सो अलग।

मिश्रजी ने कुछ देर तक मेरी ओर देखकर कहा—"अजब बेवक़ूफ़ हो। नशे में रसगुल्ले खाने क्यों गए थे?"

बेवक़ूफ़ तो था ही, नहीं किसी का मामा क्यों होता? मैंने कहा—"जी हाँ, बेवक़ूफ़ तो ईश्वर ने ही बनाया है।"

कमजोरी दूर होते ही मैं घर चला आया।

उस दिन से मैंने प्रतिज्ञा कर ली है कि अब कभी बहन के घर न जाऊँगा, चाहे कुछ भी हो जाय।

## [illegible]

उफ़ ! कमबख्त मोटर-साइकिल थी या हवा की खाला, भागती ही आ रही थी । आरज़ू मिन्नत या रोक-थाम की ज़रा भी परवा न कर सरसराती हुई चली आ रही थी, खैरियत थी कि सड़क सीधी और साफ़ थी, वरना मालूम नहीं, क्या होता । मैं बार-बार खुदा से उसे 'बरदे' कर देने की प्रार्थना करता, पर उसमें तो जैसे पर लगते जा रहे थे ।

मेरा कलेजा धक-धक हो रहा था । दिल पीपल के पत्ते की तरह काँप रहा था । उस दिन तो मुझे शक हो गया कि मेरा दिल स्पंज के टुकड़े का बना है । ज्यों ही कोई चीज़ सामने दिख पड़ती, वह सिकुड़कर बैठने लग जाता, ज्यों ही वह चीज़ पीछे छूट जाती, त्यों ही फिर फैलकर ज्यों-का-त्यों हो जाता ।

मील-पर-मील निकलते चले जा रहे थे, जैसे नदी में घास-पात बहता जाता है । 'एक, दो, तीन ! ओह ! मैं तो घबरा उठा शक होने लगा कि कभी यह मृत्यु-दौड़ खत्म ही न होगी । न-जाने उस मोटर-साइकिल की उस बदज़ात टंकी में कितना पेट्रोल भरा था । शायद दुनिया-भर का सब तेल उसी में घुसकर बैठ रहा था, खत्म ही न होता था । कितनी बार मैंने चाहा कि सारा तेल एकदम पानी की भाप की तरह

सब-का-सब एक साथ उड़ जाय, पर वह कमबख्त तो जैसे पिकेटिंग करने (धरना देने) आया था। उस समय क्या बतलाऊँ, दिल कैसा हो रहा था। रो-रोकर वह यही कहता था कि हाय-हाय! बुरा फँसा! दुष्टों ने अच्छा मजाक किया, अच्छा जन्म-दिन मनाया!

उस दिन मेरी वर्ष-गाँठ थी। खूब बन-ठनकर और नया सूट पहनकर बाहर निकला था। दिल से खुशी के फौवारे फूट रहे थे। उन्हीं फौवारों के बीच मित्र-मंडली में जा पड़ा। बधाइयों की तड़ातड़ के बाद एक दोस्त ने हम सबको अपने यहाँ भोजन करने का निमंत्रण दे मारा। ऐसे मौके बार-बार नहीं आते, यह सोचकर मैं तो 'नहीं' न कर सका। मेरे कारण दूसरे दोस्तों को भी 'हाँ' करना पड़ा। अतः हम लोग उस मित्र के घर पहुँचे। उस समय तक मुझे शक भी न था कि सब मुझे बेवकूफ बनाने की बंदिश पहले ही बाँध चुके हैं।

खैर, खाना खत्म होने के बाद यहाँ-वहाँ की बातें करते-करते मेरे 'होस्ट' दोस्त ने अपनी नई मोटर-साइकिल की बात छेड़ दी, और उसकी तारीफ करने लगा। मैं कभी मोटर-साइकिल पर चढ़ा न था, पर चढ़ने की प्रबल इच्छा रखता था, यह बात वह धूर्त जानता था। अतः घुमा-फिराकर उसने इस तरह बातें करना शुरू किया कि मेरे मुँह में पानी आ गया। मोटर-साइकिल पर चढ़ने के लिये मन एकदम फड़फड़ा

कहा। इरादा जाहिर करते ही मित्र ने [illegible] के गाड़ी
बाहर निकालकर सड़क पर खड़ी कर दी।

उनके कहने से मुझे मालूम हुआ कि जो साइकिल चलाना जानता है, उसे मोटर-साइकिल चलाने में कोई दिक्कत नहीं हो सकती। अतः मैं समझ गया था कि उसका ड्राइव करना सहज है। मित्र ने मुझे उसका 'स्टार्ट' करना बतला दिया। एक बार स्टार्ट करके दिखा भी दिया, और तब उसे मेरे हाथों में छोड़ दूर हट गया। मैं उस समय बहुत उत्तेजित था। नया अनुभव करने जा रहा था। उसकी उत्तेजना में यह पूछना भूल गया कि चलती हुई मोटर-साइकिल रोकी कैसे जाती है, उसका ब्रेक कहाँ है, इत्यादि। हाथ में हैंडिल आते ही 'स्टार्टर' दबाकर स्टार्ट कर दिया। सीट पर बैठते-बैठते पहिया आगे की ओर बढ़ने लगा। उसी समय एक दोस्त ने दौड़कर आगे की ओर कोई हैंडिल खींच दिया। एक झटके के साथ मोटर-साइकिल खड़ी हो गई।

उस समय याद आया, अरे! इसका रोकना तो पूछा ही नहीं, फल क्या होगा, इसका विचार आने के पहले ही मुंह से एक चीख निकल गई। फिर तो एक, दो, तीन चीख-पर-चीख निकलने लगीं, जैसे लखनऊ की कुंजड़िन के मुंह से गालियाँ निकलती हैं। उस समय मेरा उत्साह न-जाने कहाँ गायब हो गया। धैर्य और साहस ने भी साथ छोड़ दिया। मैं गला फाड़-फाड़कर और हरएक मित्र का नाम लेकर मोटर-

साइकिल रोक लेने के लिये चिल्लाने लगा। पर उस 'फट-फट' में मेरा स्वर ऐसा छिप गया, जैसे मा की चिल्लाहट में बच्चे की आवाज़ छिप जाती है। मैं सिर घुमाकर पीछे देख भी न सकता था। एक बार कोशिश की, तो साइकिल उलटती-सी मालूम हुई। और न हाथ छोड़कर किसी को इशारा ही कर सकता था। डर था, कहीं एक हाथ से हैंडिल न सँभला, तो फिर जान की खैर नहीं। क्या करूँ क्या न करूँ, इसी असमंजस में एक मील का रास्ता तय हो गया। अब मित्रों का ध्यान आकर्षित करना संभव न था, इसलिये उसका विचार ही छोड़ देना पड़ा।

किसी राहगीर से भी सहायता मिलने की आशा न थी। क्योंकि मित्र का बंगला शहर के बाहर की ओर था, और साइकिल इस समय किसी योगी की तरह जंगल की तरफ़ जा रही थी, जहाँ किसी भले आदमी का मिलना उतना ही मुश्किल था, जितना भगवान का मिलना।

जब तक बँगले और शहर के क़रीब था, तब तक कुछ आशा थी कि कोई मित्र सहायता को पहुँचकर गाड़ी रोक लेगा, पर अब उस आशा की हत्या होते देख दिल में उछल-कूद मच गई। दिल बार बार बिगड़कर भागने की इच्छा करने लगा—किसी के प्रेम में फँसकर नहीं, डर के मारे। वैसे तो मैं डरपोक न था, सैकड़ों बार लड़ाई-दंगे के अवसर पर छत पर से पत्थर फेंके थे, हजारों बार दरवाज़े पर खड़े होकर

लोगों को गाली दी थी, और मौका बिगड़ता देखते ही दरवाज़ा बंद कर भीतर हो रहा था, पर इस समय उस पुरानी हिम्मत का एक अंश भी साथ न दे रहा था। मालूम नहीं, शायद मोटर-साइकिल की तेज़ी के कारण हिम्मत पीछे छूट गई थी, और अब कोशिश करके भी पास न आ सकती थी, जैसे बैल-गाड़ी मोटर के पीछे छूट जाय, और फिर प्रयत्न करने पर भी कभी उसके बराबर न पहुँच सके। मुश्किल तो यह थी कि दिल को तसल्ली देने के लिये कोई सहारा न था। केवल एक ही बात का भरोसा था कि साइकिल किसी चीज़ से टकरा जायगी, और मैं गिरकर या तो इस नश्वर शरीर और पापमय मनुष्य-योनि से मुक्त हो जाऊँगा, या हाथ-पैर तोड़कर महीनों आराम से खाट पर पड़ा हलुआ खाऊँगा। इस विचार से कितनी हिम्मत बंध सकती थी, यह आप ही सोच लीजिए।

ख़ैर, इच्छा से हो या अनिच्छा से, डरकर हो या साहस कर सिवा आगे जाने के और कोई चारा न था। उस समय मुझे विचार आया, यदि ऐसा ही कोई ज़रिया पुराने ज़माने में भारतवर्ष में होता कि सिपाही युद्ध-भूमि से पीछे न हट सकते, आगे ही बढ़ते जाते, तो रानी दुर्गावती अकबर की फ़ौज से और मरहठे पानीपत की लड़ाई में कभी न हारते। मगर अफ़सोस! न उस समय मोटर-साइकिल ही कहीं थी, और न मैं था।

पर यह और ऐसे ही दूसरे विचार क्षणिक थे। विचारों का दादा, जो उस समय मोटर-साइकिल से भी तेज दौड़ रहा था, था जान का खतरा। उससे किस प्रकार बचना, यह बात मेरी विचार-परिधि के बाहर थी। सरस्वती तथा बृहस्पति की इतनी कृपा मुझ पर न थी कि मोटर-साइकिल किस तरह रोकना, इस बात को ईजाद—मेरे लिए वह ईजाद ही होती—करता। मैं तो बेरहमी से—जैसे दुश्मन का गला पकड़े, इस तरह—साइकिल के हैंडिल को पकड़े खतरे की बाट देख रहा था। साथ ही एक डर यह भी था कि वह खतरा आने के पहले ही मेरा हार्ट न फेल हो जाय। मुझे आज तक आश्चर्य हो रहा है कि मैं इतना बड़ा धक्का सह कैसे गया, बेहोश क्यों न हो गया! शायद उस समय की ईश्वर-भक्ति ने मेरी सहायता की, वर्ना मैं कभी का गश खाकर गिर गया होता।

उसी समय सामने बहुत दूर, सँकरी सड़क पर, कोई काली-सी चीज देख पड़ी। दूर से पहचान न सका, क्या है; पर ज्यों-ज्यों साइकिल आगे बढ़ने लगी, त्यों-त्यों उसका आकार स्पष्ट होने लगा। कुछ ही देर में साफ़ देख पड़ने लगा कि एक भैंस सड़क के बीच में रास्ता रोके आड़ी खड़ी है। उसे देखते ही दिल ने फिर 'बैठक' लगा दी, जान कड़ा हो गई। मैं तो वैसे ही मौत के मुँह में पड़ा हूँ, ये कमबख्त—गाड़ी, बैल, आदमी, भैंस इत्यादि—क्यों दाँत बनकर मुझे उसके पेट में ढकेलना चाहते हैं! मालूम

नहीं, कब का बदला निकालने के लिये बार-बार सड़क पर आ टपकते हैं। फिर यह भी नहीं कि किनारे से चलें, बीच से ही जायँगे। मैंने एक बार भगवान् से हार्दिक प्रार्थना की कि संसार में कुछ देर के लिये सिवा मेरे और मेरी मोटर-साइकिल के और कोई न रह जाय। जब मोटर-साइकिल थककर ठहर जाय, तब फिर सब प्राणी और चीजें ज्यों-की-त्यों हो जायँ।

पर प्रार्थना का असर देखने का समय न था। साइकिल प्रतिक्षण भैंस की ओर बढ़ी जा रही थी, मानो भैंस में कोई चुंबक था, जो उसके लोहे को अपनी ओर खींच रहा था। मैं हैरान था, किस तरह भैंस वहाँ से हटाऊँ। साइकिल घुमाकर एक किनारे से ले जाना तो मेरे लिये असंभव था। यदि ऐसा करने की कोशिश भी करता, तो सड़क के बगल की नाली में गिर चकनाचूर हो जाता। इसलिये मैंने वह विचार पास न फटकने दिया। भैंस का हटाना ही एक काम था, जो मैं कर सकता था। पर कैसे? साइकिल में हार्न जरूर था, पर उसे बजाता कौन? हैंडिल से हाथ छोड़कर यदि हार्न बजाने की कोशिश करता, तो उसमें भी गिरने का डर था। वह तो मुझसे न हो सकता था। बड़े सोच-विचार के बाद मैंने मुँह को ही हार्न बनाना ठीक समझा। यही एक उपाय था। गला फाड़कर मैं जोर-जोर से चिल्लाने लगा—"हट, हट, सड़क से दूर हो!" पर आदमी हो,

तो मुझे और मेरी कठिनाई समझे; वह कमबख्त भैंस क्यों मेरे चिल्लाने की परवा करने लगी ? ज्यों की त्यों खड़ी रही, जैसे सड़क उसी के बाप-दादा की हो। मोटर-साइकिल भी कमबख्त इस तरह उसकी ओर लपकी जा रही थी, जैसे उस पर आशिक़ हो। मैंने सोचा—बस, अब अंत आ गया। यथार्थ भय उस समय मालूम हुआ, जब भय का सामान सामने आ गया। मैंने चुपचाप ईश्वर का नाम लेकर आँखें बंद कर लीं, और इस मिट्टी के बने शरीर को छोड़ने की तैयारी करने लगा। मोटर-साइकिल दौड़ती हुई आगे बढ़ने लगी। मैं आँख बंद किए मन-ही-मन कहने लगा अब, अब, अब। पर कौन कह सकता था कब ! अचानक सिर पर कुछ चोट-सी लगी। मैंने कहा, अब। और, सिर झुका-कर ज़्यादा मज़बूती से हैंडिल पकड़ लिया। दूसरे ही क्षण मालूम हुआ, जैसे आधी खोपड़ी कटकर गिर गई ! मैंने सोचा, चलो बस, खेल ख़त्म हुआ। आज के ही दिन जन्म हुआ था, आज ही अंत होना भी बदा था। पर मोटर-साइकिल उस समय भी दौड़ी जा रही। मैं बैठा अपने बेहोश होने की राह देखने लगा।

पर न मैं बेहोश ही हुआ, और न कटी खोपड़ी से एक बूँद खून ही बहकर गले या कंधे पर गिरा। मोटर-साइकिल की चाल में भी कोई फ़र्क़ न था। मुझे ताज्जुब हुआ, और अकचकाकर मैंने आँखें खोल दीं। देखा, तो सामने कहीं भैंस न थी। साइकिल साफ़ सड़क पर सीधी दौड़ी चली जा

रही थी। कपड़ों पर खून का एक भी दाग न था। तब क्या खोपड़ी कटी नहीं? मैंने सिर हिलाया (हाथ से टटोलना असंभव था।) सिर में कहीं कोई गड़बड़ न थी, केवल कुछ हलका-सा मालूम हुआ। तभी जरा मालूम हुआ कि सिर पर हैट नहीं है। ओहो! तब समझ में आया। हैट के गिरने को ही मैंने समझा था कि खोपड़ी कट गई। आह! बड़ा धक्का हुआ। पर मैं बच कैसे गया, और वह हैट कैसे गिरा? एक ही बात इसके उत्तर में मेरे ध्यान में आई। उस 'फट्-फट्' की फट्-फट् सुनकर भैंस ने अवश्य ही सोचना छोड़ दिया। बेचारी समझी होगी कि कोई तोप धकाधक करती चली आ रही है। पर आखिरी वार करने के लिये उसने हटते हटते अपनी पूँछ चला दी, जो मेरे हैट पर लगी, और उसे उड़ा ले गई। खैर, हैट गया तो गया, जान तो बची। और जान बची, तो लाखों पाए। मैंने गिन-गिनकर ईश्वर को धन्यवाद दिए।

खैर, मैं फिर बढ़ने लगा। मैं क्यों, मैं तो पीछे भागना चाहता था, यह कहिए, मोटर-साइकिल फिर बढ़ने लगी। पर अब डर के साथ शारीरिक कष्ट भी शुरू हो गया। पीठ तथा कमर में झुके-झुके दर्द होने लगा। हाथों में झनझनी-सी चढ़ने लगी, और एंजिन की गरमी पैंट रूपी ढाल को भेदकर पर जलाने लगी। उस गरमी को शांत करने के लिये आँखों से (हवा के कारण) पानी के बूँद निकल-निकलकर चल पड़े, पर निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने के पहले ही कपड़े उन्हें

चाट गए। उन पानी की बूँदों में आँसू की बूँदें भी थीं, यह स्वीकार करने में मुझे कोई शरम नहीं। बात यह कि ऐसा मानसिक और शारीरिक कष्ट मुझे कभी न हुआ था। उस दिन पहली बार ही सब सहना पड़ा, तो मैं रो दिया।

तीसरा मील गया, चौथा मील गया, पाँचवाँ मील भी किसी बेवफा और बेशरम दोस्त की तरह पीछे छूट गया। बात-की-बात में पाँच मील निकल गए! उस समय डर के साथ मुझे गुस्सा भी था। सोच रहा था, घर छूट गया, घर के लोग छूट गए, जंगल में आ पड़ा। सारे कपड़े धूल से खराब हो गए, हैट चला गया, जान जाते-जाते बची। वाह, अच्छा मजाक किया! ठहरो बेटा, देखो, कैसा बदला लेता हूँ। एक-एक को रुलाकर न छोड़ूं, तो कहना। तुम भी कहोगे, किसी चचा से काम पड़ा है। पर हाय-हाय! बदला लेने के लिये कभी जिंदा लौट सकूँगा या नहीं, यह कौन जाने। यदि किसी ज्योतिषी से मुहूर्त पूछकर घर से निकलता तो अच्छा होता।

उसी समय सामने नजर गई, तो खून सूख गया। कुछ दूर आगे जाकर सड़क इस तरह घूम गई थी, जैसे किसी बुढ़िया की कमर बोझ पड़ने से दोहरी हो गई हो। जब मैं सीधी सडक पर मोटर-साइकिल नहीं सँभाल सकता, तो मोड़ पर कैसे, क्या करूँगा? अब की बार निश्चय ही जान गई। इस सड़क ने ही, जिसने अभी तक जान बचाई, अंत में जान

ली। आह! यदि मोड़ आने के पहले ही किसी तरकीब से साइकिल 'फ्लाइंग टर्न' हो जाय! या उसका तेल खत्म हो जाय, या चाक ही फट जाय! पर ये विचार-ही विचार थे, मृत्यु सामने सरकी आ रही थी। मैंने मान लिया—बस, अब की बार जान नहीं बचेगी। अभी तक डरते-डरते दिल काफी कड़ा हो गया था इसलिए इस बार डर ने ज्यादा ज़ोर न जमाया, उसके स्थान पर गुस्सा निकल आया। मरना तो निश्चय ही था, बदला लेने मैं वापस न लौट सकूँगा, फिर गाली देने से ही क्यों चूकूँ? मैंने अपने दोस्तों को भर-पेट गालियाँ देना शुरू कर दिया।

पर गाली देना, चाहे प्रार्थना करना, जो आफ़त सामने आने वाली थी, वह दूर न हो सकी। एक-एक पग में साइकिल मौत के सिगनल की ओर बढ़ती जा रही थी, साथ ही दिल की कँपकँपी भी अपनी जवानी पर आ रही थी। आखिर वह मौका आ ही गया, जिसको मैं बार-बार ताक रहा था। मोटर-साइकिल सरसराती हुई मोड़ पर पहुँच गई। यही मेरी ताकत और बुद्धि का इम्तहान था, पर हाय-हाय! उसमें मैं बुरी तरह फेल हो गया। मैंने एकदम हैंडिल घुमाने की कोशिश की, पर वह कमबख्त सीधा ही रहा। साइकिल सड़क छोड़ मुझे लिए नीचे उतर गई, और किनारे की बरसाती पारकर, जी छोड़कर वीराने की ओर भागी, जैसे कोई उसका पीछा कर रहा हो।

जब तक मैं सड़क पर था, तब तक बड़े आराम में था, अब जिस बला में फँसा, वह बिलकुल नई थी। ऊबड़-खाबड़ ज़मीन की धचक-मसक से बदन का दर्द सौगुना बढ़ गया। और, इस हलचल से घबराकर सब खाया-पिया बाहर निकल गया। पर अफ़सोस! वहाँ कोई पानी देने वाला भी न था, जो मैं कुल्ला कर सकता! उसी तरह गंदी मोटर-साइकिल पर मन मारे बैठा रह गया। उस समय उस ज़मीन पर मुझे बेतरह गुस्सा आ रहा था। इच्छा होती थी, एकदम शाप देकर इसे सड़क की तरह सपाट कर दूँ, जिसमें फिर कभी किसी अभागे को यह मुसीबत न झेलनी पड़े। पर यह सोचकर रह जाता था कि ये टीले और झाड़-झंखाड़ फिर कहाँ जायँगे। कमबख्त काँटों के मारे और नाकों दम था। बार-बार मेरे नए पैंट को इस तरह आलिंगन करने दौड़ते थे, जैसे ज़माने-भर के बिछुड़े हुए दो दोस्त मिल रहे हों, और हर बार उसका कुछ-न-कुछ हिस्सा ले जाते, जैसे कोई प्रेमी अपने प्रेमिका के बालों का एक गुच्छा काटकर अपने पास रख ले। यहाँ तक कि कुछ दूर जाते-जाते मेरा पतलून हाफ़ पैंट रह गया, और तब काँटे अपना प्रेम मेरी नंगी पिंडली पर आज़माने लगे। मैं बार-बार सी-सी करता, और मन मसोसकर रह जाता। पैर से खून की नदियाँ बह चलीं, जिनके साथ रही-सही हिम्मत भी कूच करने पर आमादा हो गई। पर कमबख्त मोटर-साइकिल के टायर जैसे लोहे के बने

थे, एक भी काँटा उनमें न चुभा। मेरी तो इच्छा थी कि सब काँटे एकदम उन्हीं में घुस जायें, पर जाने क्यों, वे दुष्ट उन्हें अछूता छोड़ मेरे पैर पर ही धावा करते थे, जैसे नमक की डली को छोड़ सब चींटे गुड़ की भेली की ओर दौड़ते हैं। मैंने कसम खाई कि अब कभी मोटर-साइकिल पर न बैठूँगा। यदि कभी बैठा भी, तो उस पर, जिसके टायर-ट्यूब पुराने हों। ऐसे टायर भी किस काम के, जो वक्त पर पंचर तक न हो सकें!

खैर, किसी तरह कुड़मुड़ाता, सिर धुनता मैं आगे बढ़ने लगा। बार-बार राम का नाम लेता, खुदा से पनाह माँगता, पर ये दोनों शायद उस समय दोपहर की नींद ले रहे थे। किसी ने मेरी पुकार न सुनी। कोई इस गज को उस ग्राह के चंगुल से छुड़ाने नंगे पैर क्या, जूते पहनकर भी न दौड़ा। साइकिल उसी तरह उछलती-कूदती, छलाँगें मारती चलती रही। हाँ, उसकी चाल में जरूर कुछ फर्क आ गया था। पहले की तेजी शायद अब उछल-कूद में बदल गई थी। क्या हिरन की तरह फुदकती जा रही थी!

पर इतने से ही खैर न थी, अभी 'बर्थ-डे' पूरी तरह मनाया न गया था, अभी और भी मुसीबतें आना बाकी थीं। कुछ दूर जाने पर सामने एक छोटा टीला-सा नजर आया। कुछ पास बढ़ने पर मालूम हुआ कि टीला नहीं, किसी खेत की मेड़ है, और पास आने पर देखा, तो तालाब की पार

थी। हाय-हाय! यह नई बला कहाँ से टपक पड़ी! साइकिल पार नाँघकर तालाब में धंस पड़ेगी, इसमें तो कोई संदेह न था, पर तालाब से मैं कैसे बचूँगा, यह बतलाने वाला वहाँ कोई न था। अगर पानी कम हुआ, तो ठीक है, अगर ज्यादा हुआ, तो फिर बस। अफ़सोस! अगर तैरना जानता होता। मैंने प्रतिज्ञा की कि अगर आज जीता बच गया, तो कल ही तैरना सीखूंगा। पर बचने की क्या उम्मीद!

साइकिल पार के पास पहुँचकर कुछ रुकती-सी जान पड़ी, जैसे चढ़ने से हिचकिचा रही हो, पर दूसरे ही क्षण बिल्ली की तरह लपककर पार पर चढ़ गई। पार पर पहुँचकर मैंने देखा, सामने स्वच्छ जल का एक बड़ा भारी तालाब था, जिसमें छोटी-छोटी तरंगें नाच रही थी। यदि पार पर पहुँच-कर ही साइकिल रुक जाती, तो कितना अच्छा होता, पर वह दुष्ट तो अरबी घोड़े की तरह तड़पकर पानी की ओर भागी, जैसे जन्म-भर का प्यासा पानी पीने दौड़ा जा रहा हो।

पर मेरे अभाग्य से (या सौभाग्य से ?) तालाब के पार का चढ़ाव जैसा ढलवाँ था, उतार वैसा न था। पानी की ओर पार में सीधा कटाव था, और वह भी काफ़ी गहरा। इस बात पर मैंने तब ध्यान दिया, जब साइकिल ढाल के किनारे पहुँच गई। पर उस समय ध्यान देना-न-देना बराबर था। मेरे सँभल सकने के पहले ही साइकिल ने छलाँग मार दी। नतीजा वही हुआ, जो होना था। मेरे हाथ हैंडल से छूट

गए, पैर उखड़ गए, और मैं चक्कर खाता हुआ सिर के बल पानी में जा गिरा।

इस अचानक घटना से मैं इतना घबरा गया था कि पानी में गिरते समय साँस रोकना भूल गया। अतः ज्यों ही सिर पानी में डूबा, त्यों ही सेरों पानी जबरदस्ती मेरी नाक तथा मुँह के रास्ते पेट में घुस पड़ा और दम घुटने लगा। मैंने अकबकाकर फौरन सिर बाहर निकालना चाहा, पर पानी के बाहर आने के पहले ही किसी ने एक झटके के साथ मुझे फिर अंदर खींच लिया। यह बात मेरे प्राणों के लिए असह्य थी। वे तो इस तरह जल्दी मचा रहे थे, जैसे कहीं दावत में जाना हो। यह रोक-थाम उन्हें सहन न हो सकी, एकदम निकल जाने का प्रयत्न करने लगे। मैंने बड़ी मुश्किल से उन्हें रोककर जल्दी-जल्दी हाथ से आस पास टटोलना शुरू किया। तुरन्त ही मेरा हाथ कोट की जेब की तरफ गया, तो देखा कि पाकेट मोटर-साइकिल के हैंडिल से फँस गया है, और इसीलिये मैं बाहर न निकल सका था। मैंने शीघ्रता से जेब हैंडिल से दूर की, और साइकिल का एक लात मारकर ऊपर उठ आया। उस समय मुझे साइकिल पर बेहद गुस्सा आ रहा था, कमबख्त मरते दम भी मेरा पीछा न छोड़ेगी क्या?

इस गड़बड़ में अभी तक पानी की गहराई देखने का मौका न मिला था। अब सिर बाहर निकालकर साँस ली, तो कुछ

होश आया। पहली बात जो ध्यान में आई, वह थी, जहाँ मैं खड़ा था, उस स्थान की गहराई की थाह लेना। तालाब की लंबाई-चौड़ाई देखकर मैं तो समझा कि बहुत गहरा होगा, इसलिये एक गहरी साँस लेकर मैंने डुबकी ली। पर कुछ ही दूर जाने पर पैर में ज़ोर से किसी चीज़ की ठोकर लगी। टटोला, तो ज़मीन थी। खड़ा हुआ, तो गले तक पानी था। मेरे मुँह से निकल गया— "या ख़ुदा, जान बची।" पर ठीक से साँस भी न ले सका था कि पैर में किसी ने बरछी-सी छेद दी। मैं दर्द के मारे चिल्ला उठा। अभी चिल्लाहट की भनक कान से दूर भी न हुई थी कि दूसरी बरछी लगी। उफ़्! कमबख़्त ग़ज़ब की मछलियाँ उस तालाब में थीं, जो मेरे घावों को नोच-नोचकर भाग रही थीं। मैं अब तीसरी बरछी के लिये न ठहरा, पागल भैंसे की तरह खड़भड़ करता किनारे की ओर भागा।

ख़ैर, किसी तरह सूखी ज़मीन तो मिली, पर उस पर चलने की शक्ति शरीर में न थी। सारा बदन टूट-सा गया था, पैर में जैसे सैकड़ों बिच्छुओं ने डंक मार दिए थे। तालाब का पानी पी जाने से दिल अलग बिगड़ रहा था, सिर जैसे फटा जा रहा था। लाचार वहीं पानी के किनारे बैठकर ( या यों कहिए, गिरकर ) अपने भाग्य को कोसने लगा।

जाड़े के दिन का तीसरा पहर था। ठंडी-ठंडी हवा बह रही थी। गीले कपड़े पहने सरदी में वहाँ बैठा मैं 'सी-सी' की

मल्हार गाता, दाँतों की कटकटाहट की शहनाई बजाता और देह की कँपकँपी से 'ताथेई-ताथेई' ताल देता अपना जन्म-दिन मना रहा था !

पर 'बर्थ-डे' मनाता, चाहे झख मारता, मेंढक तो था नहीं, जो गीले बदन आराम से बैठा रहता, खासकर तब जब कि हड्डी में चुभनेवाली ठंडी-ठंडी हवा चल रही थी, और सिर पर एक पेड़ की छाया थी। कुछ ही देर में ठंड ने बेचैन कर दिया। ऐसा मालूम होने लगा, जैसे खून जमकर दही हो जायगा। लाचार उस जगह से किसी तरह उठा। खुली जगह में, जहाँ सूर्य की पूरी धूप पड़ रही थी, जा बैठा। बदन से गीले कपड़े उतारे, और निचोड़कर धूप में सूखने को डाल दिए।

कपड़े सूखने पर क्या करूंगा, कहाँ जाऊँगा, इसका निश्चय मैं न कर सका था, न कभी कर सकता, क्योंकि आस-पास कोई आदमी का बच्चा न था, जिससे उस स्थान का पता-ठिकाना पूछता—न-जाने और क्या-क्या मुसीबतें उस दिन झेलनी पड़तीं, और किस तरह दिन का अंत होता, पर ईश्वर ने कृपा करदी, दो घंटे बाद ही वह धूर्त-मंडली मुझे खोजती हुई वहाँ आ निकली, और मुझे भावी संकट से बचा लिया।

पर इतना ही कष्ट क्या कम था ! ऐसा जन्म-दिन क्या आपने मनाया है ?